प्रथम दयानन्द जन्म शताब्दि ग्रन्थमाला सं० ६

ओ३म्

आर्य्य-समाज

लेखक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम. ए.

प्रकाशक

नारायण स्वामी, प्रधान,

दयानन्द जन्म शताब्दि सभा, मथुरा।

प्रथम वार २०००

सम्वत् १९८१

मूल्य ।॥)

Printed by Krishna Ram Mehta, at the Leader Press, and
published by Mahatma Narain Swami, President, Dayanand's
First Birth-centenary Committee, Muttra.

ओ३म्

निवेदन

संसार का उद्धार करने के हेतु महर्षि दयानन्द का जन्म हुआ था। वे किसी एक देश या काल के व्यक्ति नहीं थे। प्राचीन-वैदिक-सिद्धान्तों के प्रसारण के हेतु ही आर्य्यसमाज की संस्थापना की गई थी। जगदोद्धारक ऋषि की एक मात्र यही अभिलाषा थी कि संसार सत्य का प्रेमी बने; मिथ्या, युक्ति-शून्य आडम्बरों का विनाश होकर मानव-जीवन पवित्र तथा शुद्ध हो। भारतवर्षान्तर्गत प्रचलित कुरीतियों तथा अज्ञानावृत सिद्धान्तों को देखकर दीनवत्सल दयानन्द का हृदय द्रवीभूत होगया था। उन्होंने यहां की धार्मिक, सामाजिक तथा दार्शनिक दशा के विषय में अपने जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं उनके प्रदर्शन के हेतु इस पुस्तक की रचना हुई है। महर्षि का अमूल्य जीवन स्वयं ही कितना शिक्षाप्रद है इसके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है। हमें आशा है कि सत्याभिलाषी विवेकी व्यक्ति महर्षि के जीवन और उनके सिद्धान्तों से लाभ उठावेंगे।

आर्य्यसमाज ने अपने जीवन के इन पचास वर्षों में ही भारतवर्ष की जनता का दृष्टिकोण कितना परिवर्तित कर

दिया है, और इस छोटे से काल में देश का कितना उपकार किया है इसका वृत्तान्त भी इस पुस्तक में दिग्दर्शित किया गया है। आशा है कि हमारे पुरुषार्थी भाई आर्य्यसमाज के कार्य्य की सराहना करने के अतिरिक्त इसमें हाथ भी बटावेंगे। अभी यह महान् यज्ञ अपूर्ण है पर हमारे उद्योग से यह शीघ्र ही सफल हो सकता है।

अन्त में, हम अपने विद्वान् लेखक श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम. ए., को हृदय से धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के रचने की कृपा की है।

नारायण स्वामी,

प्रधान,

प्रथम-दयानन्द-जन्म-शताब्दि-समिति, मथुरा।

विषय-सूची

ओ३म्

प्रस्तावना

गत वर्ष मैंने यह विचार किया था कि 'आर्य्यसमाज' नामक एक पुस्तक रचूँ जिस में उसके पूज्य संस्थापक की जीवनी, सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या, कार्य्यों का यथोचित वर्णन तथा विधर्मियोंकृत आक्षेपों के उत्तर और आर्य्यसमाज का संक्षिप्त इतिहास हो। यद्यपि इसके लिखने की सामग्री बहुत कुछ एकत्रित करली थी और प्रकाशन की सूचना भी दी जा चुकी थी तथापि शीघ्र ही अपने डेंगू-ज्वर में ग्रसित हो जाने और स्वास्थ्य बिगड़ जाने तथा प्रकाशन का प्रबन्ध न कर सकने के कारण पुस्तक निर्माण में भी शिथिलता हो गई। इस वर्ष पूज्यपाद श्री नारायण स्वामीजी ने इसी विषय पर एक छोटी सी पुस्तिका लिखने की आज्ञा दी। यह पुस्तिका उसी आज्ञापालन का उद्योग मात्र है। ऋषि की जीवनी के कुछ अध्याय बड़े ग्रन्थ के लिये लिखे गये थे कुछ में परिवर्त्तन कर दिया गया है। सिद्धान्त और कार्य्य सर्वथा नये सिरे से लिखे गये हैं, क्योंकि प्रस्तावित ग्रन्थ के अध्याय अधिक विस्तृत होने के कारण इस पुस्तिका के योग्य न थे। आशा है कि आर्य्यसमाज से अनभिज्ञ जनता को आर्य्यसमाज के सम्बन्ध में सारांश जानने में सहायता मिलेगी। बड़े ग्रन्थ के विषय में इस समय कुछ नहीं कहा जा सकता। उसका लिखना तो असम्भव नहीं है परन्तु जब तक प्रकाशन का प्रबन्ध नहीं होता पुस्तक लिखने का साहस करना कठिन है।

प्रयाग
संवत्, १९८१ वि०. } गंगाप्रसाद उपाध्याय एम. ए.

ओ३म्

आर्य्यसमाज

पहला भाग

संस्थापक और संस्थापना

पहला अध्याय

प्रकाश की पहली किरण ।

पूरे सौ वर्ष हुये अर्थात् सम्वत् १८८१ विक्रमी (सन् १८२४ ई०) में गुजरात (काठियावाड़) देश के मौर्वी प्रान्त में उदीच्य ब्राह्मण कुल में एक बालक का जन्म हुआ । इस भौतिक सृष्टि में इस प्रकार के जन्म प्रतिक्षण हुआ ही करते हैं और इनके साथ कोई भी असाधारण बात नहीं होती। जीवन-आरम्भ प्रत्येक पुरुष का या यों कहिये कि प्रत्येक प्राणी का समान ही हुआ करता है। वही रोना, वही मातृ-दूध की इच्छा, वही निमेष, वही उन्मेष। परन्तु जिस प्रकार एक ही स्थान से अनेकों सड़कें, समानतया आरम्भ होकर

तत्पश्चात् एक दूसरे से [illegible] होती जाती है, इसी प्रकार प्राणियों की जीवन-यात्रा [illegible]धि उनमें विशेषता और भेद उत्पन्न कर देती है। राजा और रंक, देव, ऋषि और मनुष्य, उत्पन्न होने के समय प्रायः एक से ही होते हैं। गर्भ के आरम्भ में तो पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग की भी वही अवस्था होती है जो मनुष्य की। परन्तु ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जाता है और शरीर अभिवृद्धि को प्राप्त होता जाता है त्यों त्यों भिन्न २ शरीरावयवों का भेद प्रकाशित होने लगता है और जन्म के समय भेड़ और मनुष्य के बच्चों में इतना भेद हो जाता है कि साधारण दृष्टि भी उसमें धोखा नहीं खा सकती। जन्म के समय मनुष्य मात्र के बच्चे एक से होते हैं। किसी के मस्तिष्क पर यह खुदा नहीं होता कि यह ऋषि है अथवा यह राजा है। यह मूर्ख है अथवा यह दरिद्र है। यह देश-भक्त है या यह देशशत्रु है। परन्तु, थोड़े ही दिनों पश्चात् इन बच्चों की गुप्त शक्तियां प्रादुर्भूत होने लगती हैं और उन में पूरब और पच्छिम का भेद हो जाता है। प्राचीन यूनानियों ने मनुष्यों को दो कोटियों में विभक्त किया है एक पार्थिव (men of clay), दूसरे आग्नेय (men of fire)। पार्थिव मनुष्य वह हैं जिनका उद्देश्य केवल खाना पीना और सुख भोगना है। वह लौकी या कुम्हड़े के समान पृथ्वी के सहारे रहते और पृथ्वी पर ही मुरझा जाते हैं। इनका समस्त जीवन दूसरों के आश्रय व्यतीत

होता है। वह किसी को [illegible] नहीं दे सकते। उनकी छाया में किसी को सुख [illegible] मिलता। परन्तु आग्नेय मनुष्यों की चाल ही निराली है। वह संसार में सुख भोगने नहीं आते किन्तु दूसरों को सुख देने आते हैं। यह अग्नि की ज्वाला के समान ऊपर को चलते हैं। उनकी गति उर्द्ध होती है। वह दूसरों का आश्रय ढूंढ़ने के स्थान में दूसरों को आश्रय देते हैं। उनकी छाया में संसार पलता है और उनके तेजोमय जीवन से निस्तेज प्राणी भी तेज ग्रहण करते हैं। पार्थिव मनुष्यों से पृथ्वी भरी पड़ी है। उनके जीवन चरित्र लिखने के लिये लेखकों को कष्ट उठाना नहीं पड़ता, मुद्रणालयों में कम्पोज़ीटरों को परिश्रम नहीं करना पड़ता, पाठकों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। "आहार, निद्रा, भयमैथुनंच" ही उनका आद्योपान्त इतिहास है, यही उनका जीवन चरित्र है। आग्नेय मनुष्य कभी २ ही उत्पन्न होते हैं परन्तु उनका प्रभाव संसार के प्रत्येक विभाग में पाया जाता है। उनका भौतिक जीवन तो बहुत बड़ा नहीं होता। परन्तु उनके शरीरान्त के साथ उनकी मृत्यु नहीं होती। उनके जीवन उनकी संस्थायें हैं जो उनके प्राणान्त के सहस्रों वर्ष पश्चात् तक दृष्ट तथा अदृष्ट रूप में उपस्थित रहती हैं। ऐसे आग्नेय पुरुष ही चिरस्मरणीय होते हैं और इनका जीवन चरित्र योग्य पुरुष न केवल काग़ज़ के पृष्ठों पर ही किन्तु अपने हृदय-पटल पर भी लिखने का यत्न करते हैं। जिस छोटे बालक के जन्म

का संकेत हमने ऊपर किया है वह उन्हीं आग्नेय पुरुषों में से था।

जिस प्रकार बड़े वृक्षों की जड़ें सर्वथा भूमि के भीतर ही रहती हैं इसी प्रकार महान् पुरुषों के प्रारम्भिक वृत्तान्त भी समयरूपी भूमि के भीतर ही छिपे रहते हैं। उस समय उनके सहयोगियों को उनकी महत्ता का पता भी नहीं होता। इसीलिये उनका उस समय का इतिहास यथोचित प्रकाश नहीं पाता। बहुधा देखा जाता है कि जब इस प्रकार के मनुष्य अपने तपोबल तथा पराक्रम के कारण ख्याति प्राप्त कर लेते हैं तो उनके अनुगामी लोग उनके जन्मकाल, जन्म स्थान, तथा जन्म के साथ अनेकों अविश्वसनीय और असम्भव घटनायें जोड़ कर उनको करामाती बना देते हैं और जो काम उन्होंने अपने जीवनसमय में लक्ष्य में रक्खा था वह उनके अन्ध विश्वासी तथा गुरु-कीर्त्ति-प्रिय शिष्यों द्वारा नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। महात्मा बुद्ध, मुहम्मद साहब, ईसा मसीह के विषय में हम इस प्रकार बहुत सी गप्प कथाओं को प्रचलित पाते हैं, और साधारण जनता में यह कथायें मूल-सिद्धान्तों की अपेक्षा सौ गुनी अधिक प्रिय हो जाती हैं। कोई कहता है कि अमुक महापुरुष के जन्म के समय अमुक तारा निकला, कोई कहता है कि अमुक पुरुष के जन्म समय अमुक आकाश वाणी हुई। अमुक पुरुष जन्मते ही इस प्रकार उठ खड़ा हुआ या अमुक बात कहने लगा।

सम्भव है कि किसी समय ऐसी लोकोक्तियाँ इस बालक के विषय में भी प्रचलित हो जांय और हमारी तुच्छ बुद्धि में तो यदि ऐसा हुआ तो बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी। परन्तु इस समय इस बालक के बालपन के विषय में ऐतिहासिक खोज के उपरान्त भी बहुत ही कम ज्ञात हो सका है। समस्त बाल्यावस्था सम्बन्धी सूचना का मूलाधार इस महापुरुष का स्व-कथित वृत्त ही है। इतना तो निश्चय है कि गुजरात का मौर्वी प्रान्त ही जन्मस्थान है। सम्भव है मौर्वी नगर हो, सम्भव है उसी के अन्तर्गत टङ्कारा ग्राम हो। पितृ दत्त नाम था मूलशङ्कर। पिता-माता के धार्मिक विचारों को देखते हुये यह नाम सर्वथा उचित था क्योंकि पिता अम्बाशङ्कर जी शैव मतानुयायी और शङ्कर के विशेष भक्त थे। सम्भव है कि कई पीढ़ियों से यह भक्ति की परम्परा इस कुल में चली आई हो क्योंकि 'अम्बाशङ्कर' महादेव और पार्वती दोनों के नामों का स्मारक है। 'मूलशङ्कर' भी शिव की अगाध भक्ति का प्रदर्शक है। श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के कथनानुसार "दयानन्द के पिता एक विशिष्ट शिवोपासक थे। यहां तक कि वह शिवोपासना को ही सार सर्वोच्चधर्म समझते थे। फलतः विपुल सम्पत्ति और विस्तृत परिवार के स्वामी होने पर भी वह धर्म विषय में जैसे निष्ठासम्पन्न थे, वैसे निष्ठासम्पन्न लोग संसार में बहुत न्यून देखने में आते हैं। इसी हेतु शङ्कर के उद्देश से वारव्रत, अर्चना उपवास जो कुछ अनुष्ठितव्य था

वह उस सब को ही सर्वाङ्ग रूप से अनुष्ठित करके चलते थे। केवल आपही नहीं चलते थे उसके लिये दूसरों को भी अनुरोध करते थे। जिस स्थान में शिव पुराण का पाठ होता, जहां शिवोपाख्यान सुनाया जाता, किंवा जिस स्थान में शिव सम्बन्धी किसी सदुनुष्ठान की सूचना होती, वह उस स्थान में श्रद्धान्वित चित्त से जाकर उसका श्रवण और दर्शन करके अत्यन्त पुलकित होते थे। फिर इस में क्या संशय है कि पितृ-प्रकृति की ऐसी प्रगाढ़ और अकृत्रिम धर्मनिष्ठा पुत्र दयानन्द में भी निवेशित हो गई। केवल अकृत्रिम-धर्मनिष्ठा के कारण ही वे प्रसिद्ध नहीं थे। वह एक अविचलित चित्त व्यक्ति भी थे''।

पं० अम्बाशंकर जी संस्कृत विद्या-प्रिय थे। उनके घराने में वेदपाठ बहुत होता था। यही कारण था कि उन्होंने अपने पुत्र मूलशङ्कर को भी वेदपाठ कराया था। पांच वर्ष की अवस्था से पूर्व ही में मूलशंकर ने अक्षर-बोध प्राप्त कर लिया और अनेकों वेद मंत्र उनको याद हो गये। आठवें वर्ष उनका जनेऊ (यज्ञोपवीत संस्कार) हुआ और वह नियमानुसार वेद पढ़ने लगे। १४ वर्ष की अवस्था तक वे व्याकरण और सम्पूर्ण यजुर्वेद पढ़ चुके थे।

पं० अम्बाशङ्कर जी की यह इच्छा थी कि हमारा पुत्र भी हमारे समान शिव का भक्त बने। इसलिये उनका सर्वदा यही अनुरोध रहा करता था कि मूलशङ्कर को नियमानुसार शिव

पूजन, शिव-व्रत तथा शिव-कथा श्रवण का अभ्यास कराना चाहिये। मूलशङ्कर की माता बड़ी स्नेहमयी तथा कोमल-हृदया थीं। जब पिता व्रत आदि के लिये आग्रह करते तो माता यह कह कर टाल दिया करतीं थीं कि अभी बालक है ऐसा कठोर व्रत पालन नहीं कर सकता।

फाल्गुन मास के पहले पक्ष में त्रयोदशी को शिवरात्रि का त्योहार होता है। उस दिन शिव के भक्त व्रत रखते हैं और रात भर जागरण करके शिवजी की पूजा में व्यतीत करते हैं, पं० अम्बाशङ्कर ने मूलशङ्कर को कई बार व्रत रखने के लिये अनुरोध किया और जब वह चौदह वर्ष के हुये तो व्रत रखने पर राज़ी हो गये। मूलशङ्कर थे तो छोटे परन्तु आरम्भ से ही उनके हृदय में ईश्वर की भक्ति थी। वे समझते थे कि ईश्वर कोई ऐसी अच्छी वस्तु है जिसके प्राप्त होने से बड़ा आनन्द मिलता है। इसलिये उन्होंने बड़ी श्रद्धा से व्रत रक्खा और दिन भर बिना आहार तथा जल पान के व्यतीत किया। इस प्रकार के व्रत तो सदा ही रक्खे जाते हैं और उनमें भक्ति भी होती है। हम देखते हैं कि लाखों मनुष्य भिन्न २ अवसरों पर उपवास करते हैं और उनको यही आशा होती है कि हम को इसका कोई अच्छा फल ईश्वर की ओर से मिलेगा। परन्तु यदि उपवास रखने वालों के विचारों की मीमांसा की जाय, यदि वे स्वयं अपने हृदयों को टटोलें तो ज्ञात होगा कि उनका लक्ष्य कुछ अनिश्चित सा होता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य

सूचीभेद्य अंधेरे में कुछ टटोल रहा हो वही दशा इन लोगों की होती है। वस्तुतः उनको नहीं मालूम कि हमको क्या मिलेगा और क्यों कर मिलेगा और कौन उसे देगा। यही अवस्था स्वर्ग-इच्छा और मुक्ति-इच्छा की है। हम इतना तो जानते हैं कि यह कोई प्राप्ति के योग्य वस्तुएं हैं जिनका मिलना सम्भव है। जो स्वयं अच्छी भी हैं। जिनसे सुख मिलेगा। परन्तु वस्तुतः वह क्या वस्तुएं हैं? उनका स्वरूप क्या है? उसका आनन्द कैसे मिलता है? यह सब बातें स्पष्टतया साधारण मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं होतीं।

मूलशङ्कर में और इन साधारण मनुष्यों में कुछ तो समानता थी परन्तु कुछ भेद भी था। सभी बड़े मनुष्य छोटे लोगों से किसी न किसी पक्ष में समान होते हैं और विशेषता भी होती ही है। समानता तो यह थी कि मूलशङ्कर ने भी अन्य लोगों की भांति अच्छा और प्राप्ति-योग्य समझ कर ही उपवास रक्खा। उन्होंने समझा कि ऐसा करना हमारे लिये कल्याणकारी होगा। परन्तु आने वाली घटना से पता चलता है कि उनका अधिक विचार भौतिक सुख की अपेक्षा ईश्वर-प्राप्ति पर था। वह यह समझते थे कि ऐसा करने से ईश्वर हम से प्रसन्न होगा और आज हमको शिव के साक्षात् दर्शन मिलेंगे। उन्होंने अन्य लोगों के समान न तो ईश्वर के स्वरूप का ही विचार किया था और न यही जानते थे कि ईश्वर की प्राप्ति से क्या आनन्द होता है। केवल अनिश्चित विचार ही

उनके मस्तिष्क में भरे थे। वह समझते थे कि ईश्वर कोई ऐसी चीज़ है जिसकी प्राप्ति मनुष्य के लिये आवश्यक है।

पाठक गण, यदि तुमको कभी अपने विचारों की वक्रगति की मीमांसा करने का अवसर मिला हो तो तुम जानते होगे कि कभी कभी मनुष्य के हृदय में प्रेम की लहर उत्पन्न होती है और यह पता नहीं लगता कि उस प्रेम का विषय क्या है। हमको प्रतीत होता है कि हमारा हृदय हमको छोड़ कर किसी वस्तु की ओर जा रहा है। परन्तु उसकी गति के लक्ष्य का पता नहीं। यह तो जानते हैं कि हम किसी को प्यार करते हैं परन्तु किस को प्यार करते हैं यह पता नहीं। ऐसा अनिश्चित-विषयिक प्रेम बहुधा हमारे हृदयों में उठा करता है। इस अवस्था को एक प्रकार की अकथनीय, अनिर्वचनीय अवस्था कह सकते हैं। यह अवस्था न तो शब्दों में प्रकाशित की जा सकती है और न तर्क इसके विषय में कुछ अनुसन्धान कर सकता है।

मूलशङ्कर की उस शिवरात्रि के दिन वही अवस्था थी। उनका आत्मा किसी महती शक्ति की ओर प्रधावित सा हो रहा था। लक्ष्य निश्चित न था। सामने अंधेरा सा प्रतीत होता था। वह इसीलिये अपने कर्त्तव्य में लवलीन थे कि ईश्वर के दर्शन होंगे। ईश्वर क्या है और कैसा है? इसका उनको क्या पता? परन्तु अन्य पुरुषों की भांति उन्होंने अपने मस्तिष्क को विचार-शून्य नहीं कर दिया था। उनका प्रेम और उनकी बुद्धि

दोनों ही ईश्वर के अर्पण थे। वह ईश्वर के अधूरे भक्त होना नहीं चाहते थे। वह अपने सर्वस्व को ही जगत्पिता की भेट करना चाहते थे। उनके आगामी जीवन से पता चलता है कि उन्होंने अन्ध विश्वास को कभी अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। वह अन्ध विश्वास युक्त भक्ति को अधूरी भक्ति कहते थे। यही उन में और साधारण मनुष्यों में भेद था और यह भेद बहुत बड़ा भेद है।

शिवरात्रि को दिन भर उपवास रखने के पश्चात् जब रात्रि आई तो १४ वर्ष के मूलशङ्कर ने जागरण की तैय्यारी की और अपने पिता के साथ शिव-कथा श्रवण करने के लिये शिवालय में जा उपस्थित हुये। उनके पिता को प्रति वर्ष यही करते करते स्वभाव सा हो गया था। वह जब शिवरात्रि आती, जागरण करते और जब चली जाती तो अपना काम काज देखते। यही हाल कथा कहने वाले पुजारी का था। परन्तु मूलशङ्कर को यह पहली ही रात्रि थी। जिस मार्ग का उन्होंने आज अवलम्बन किया था वह उनके लिये कोई परिचित मार्ग न था, इसलिये वह चौकन्ने होकर चल रहे थे। बाल्योचित औत्सुक्य भी उनमें उपस्थित था। वह समझते थे कि शिव-कथा सुनकर जीवन सफल करेंगे और ईश्वर के दर्शन करके तृप्ति ग्रहण करेंगे। हम को ज्ञात नहीं कि उन्होंने क्या कथा सुनी और उसने उनके आत्मा पर क्या प्रभाव डाला। परन्तु अनुमान होता है कि उन्होंने

कैलाशवासी शिवजी, उनकी अर्द्धाङ्गिनी पार्वती जी, तथा उनके वाहन वृषभ के विषय में बहुत कुछ सुना होगा। उनको बतलाया गया होगा कि जिस समय शिवजी डमरू बजाकर अपना तांड्व नृत्य करते हैं तो संसार में हलचल मच जाती है। सृष्टि के संहार करने वाले यही हैं। इन्हीं की महती शक्ति है। इन्हीं को देवों का देव महादेव कहते हैं, इत्यादि इत्यादि। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि बालक मूलशङ्कर सम्पूर्ण उद्योग से दत्तचित्त होकर शिव-कथा का अमृतपान करते रहे और कथा कहने वाले के शब्दों पर यथा शक्ति विचार भी करते रहे। कहते हैं कि ज्यों ज्यों रात्रि व्यतीत होती गई निद्रा देवी का उपासकों के ऊपर आक्रमण भी बढ़ता ही गया। निद्रा रात्रि की रानी है। वह तो अपना कर राजा और रंक सभी से लेती है। और जो उस कर को नहीं देता वह विद्रोह के लिये दण्ड भी अवश्य पाता है। कुछ उपासक तो पहर रात गये हीं ऊँघने लगे कुछ ने अधिक वीरता दिखाई और यद्यपि कानों ने सुनी अनसुनी करनी शुरू की, तो भी भक्ति और श्रद्धा से प्रेरित होकर 'हूँ' 'हाँ' करते रहे। परन्तु जब आधी रात निकट आई तो श्रोतृ गण तो एक ओर रहे स्वयं कथा कहने वाले पण्डित जी भी निद्रा देवी के तीव्र प्रहारों का सहन न कर सके और अति शीघ्र लोट पोट हो गये। उस समय एक माई का लाल, चौदह वर्ष का मूलशङ्कर ही जागता था। "या निशा

सर्वभूतानां तत्र जागर्ति संयमी"। मूलशङ्कर सच्चे संयमी थे। उनके हृदय में उमङ्ग थी, वह ईश्वर दर्शन के लिये उत्सुक थे। अतः उनको नींद आनी ही कठिन थी।

जिस समय मूलशङ्कर इस असमंजस की अवस्था में अकेले उस मन्दिर में जाग रहे थे। यकायक एक घटना हुई जो यद्यपि साधारण मनुष्यों के लिये साधारण सी घटना है तथापि मूलशङ्कर के लिये यह एक जीवन पलटने वाली घटना थी। घटना यह थी कि एक छोटा चूहा आया और सामने स्थापित की हुई शिव की मूर्ति पर से चढ़ावा उठाकर ले गया। ऐसी घटनायें मूर्ति-पूजक संसार के सन्मुख नित्य प्रति होती रहती हैं। भारत के प्रत्येक नगर वा ग्राम में मार्गों पर पाषाण मूर्तियां होती हैं जिनके चढ़ावे का अधिकांश केवल कुत्ते बिल्लियों के ही भाग में आता है। परन्तु इसमें किसी मनुष्य को कोई असाधारण बात प्रतीत नहीं होती। हो क्यों? उनका लक्ष्य तो अनिश्चित होता है जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। उन्होंने अपने विचारों का कभी विश्लेषण करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने कभी यह जांच नहीं की कि हमारे विचार वस्तुतः क्या हैं? वह तो उस पुरुष के समान हैं जो जंगल के बीच में दौड़ रहा है परन्तु नहीं जानता कि मैं कहां जाऊंगा॥ इसीलिये संसार की अनेक घटनायें उनके हृदय-पटल पर कोई चिह्न नहीं बनातीं और न उन के मस्तिष्कों को कष्ट देती हैं। जिस प्रकार कागज़ नहीं

जानता कि उस पर क्या लिखा जा रहा है, जिस प्रकार लेखनी नहीं जानती कि मुझसे क्या लिखा जा रहा है जिस प्रकार कमरे की दीवारें नहीं जानतीं कि क्या लिखा जा रहा है। इसी प्रकार साधारण हृदय भी इन घटनाओं से प्रभावित नहीं होते। परन्तु मूलशङ्कर का हृदय-पटल स्वच्छ दर्पण के सदृश था। उसमें छोटी से छोटी घटना भी अपनी प्रतिच्छाया डाले बिना नहीं रह सकती थी। अतः चुहिया ने मूलशङ्कर के हृदय में एक विचित्र उथल पथल उत्पन्न करदी। श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के शब्दों में "उस घटना ने बुद्ध के शव दर्शन की न्याईं, लूथर के बाइबिल पाठ की न्याईं, और चैतन्य के साथ ईश्वरपुरी के साक्षात् की न्याईं दयानन्द के सामने नये प्रदेश को उद्घाटित कर दिया"।

वह सोचने लगे कि "मेरे पुरोवर्त्ती वृषवाहन पुरुष, जिनके विषय में शास्त्र कहता है कि विचरण करते हैं, भोजन करते हैं, सोते हैं, पीते हैं, हाथ में त्रिशूल धारण कर सकते हैं, डमरू बजाते हैं और मनुष्य को अभिशाप प्रदान करते हैं। क्या वह यही महादेव हैं" जिनके ऊपर से चूहे चढ़ावा उठा ले जाते हैं। जो अपने गात्र की भी रक्षा नहीं कर सकता वह सर्व शक्तिमान कैसे हो सकता है? जिसको चूहा भी नहीं डरता वह सृष्टि का संहार किस शक्ति से करता होगा? यह विचार-शृङ्खला मूलशङ्कर के मस्तिष्क में उद्वेग उत्पन्न करने लगी। यह वस्तुतः प्रकाश की पहली किरण थी जो उस

विचार रूपी अंधकार में चमकने लगी। यह पहला अवसर था जब मूलशङ्कर ने यह जानने का यत्न किया कि जिस ईश्वर की प्राप्ति के लिये इतना कष्ट उठाया जा रहा है और इतना ढौंग रचा जा रहा है वह वस्तुतः क्या है ? यह एक चौदह वर्ष के बालक के मस्तिष्क का पहला प्रश्न था और इसी प्रश्न के उत्तर पर ज्ञान के समस्त कोष की आधार शिला थी, सम्भव है कि यह प्रश्न अनेकों मस्तिष्कों में उठते हों और जिस प्रकार जलती हुई आग पर लकड़ी न रखने से बुझ जाती है इसी प्रकार परिस्थिति अनुकूल न होने से जिज्ञासा की अग्नि भी बुझ जाती हो। परन्तु मूलशङ्कर ने इस अग्नि को जीवन पर्य्यन्त देदीप्यमान रक्खा और वह न केवल उसी एक आत्मा को किन्तु अनेकों तमो-पीड़ित प्राणियों को प्रकाश और शान्ति पहुंचा सकी।

दूसरा अध्याय

वैराग्य तथा गृह-त्याग

चूहे के मूर्ति पर चढ़ जाने से मूलशंकर के मन में जो भाव-तरङ्ग उठ खड़ी हुई वह उन्हीं तक परिमित न रह सकीं। वह बड़ी प्रबल तरङ्ग थी और उनके संकुचित शरीर की संकुचित सीमा को उल्लङ्घन किये विना नहीं रह सकती

थी। पाठकों ने गंगा की प्रबल धारा को किनारे काटते देखा होगा। इसी प्रकार मूलशंकर का हाल हुआ उन्होंने तुरन्त ही अपने पिता जी को जगाया और अपनी शङ्का उपस्थित की। परन्तु पिता जी क्या उत्तर देते? वह लगे डाटने। सामान्य पिता अपने पुत्रों की शंकाओं का इसी प्रकार समाधान किया करते हैं, और बुद्धि विकसित कलिका को सदा के लिये मुरझा देते हैं। पं० अम्बाशङ्कर ने भी यही किया। परन्तु उनको यह ज्ञात न था कि जो बालक आज उनके पुत्र रूप में सामने बैठा हुआ है वह एक महान् आत्मा ईश्वर का भेजा हुआ संसार को दुःख से छुड़ाने के लिये ही संसार में आया है।

पिता की डाँट पड़ते ही मूलशङ्कर चुप हो गये। उनके मन में विश्वास हो गया कि पिता जी शङ्का को निवारण नहीं कर सकते। इस भाव ने शङ्का की अग्नि को और प्रज्वलित कर दिया। मूलशङ्कर की दृढ़कार्यता इसी बात से स्पष्ट है कि जब तक वह पाषाण मूर्ति को शिव समझते रहे उन्होंने अपनी समस्त शक्ति और अनन्य भक्ति से उसकी अर्चना की और उपवास आदि के कष्ट उठाये, परन्तु ज्योंही उनको इस के शिव होने में शंका हुई उनकी श्रद्धा भी जाती रही। वह सोचने लगे कि जिसके लिये इतने कष्ट उठाये जायं उसके ईश्वर होने में ही यदि संदेह है तो हमारा समस्त उद्योग ही निष्फल हो गया। वह तुरन्त ही मन्दिर को छोड़कर घर चल

दिये। और वहां जाते ही माता से खाना मांगकर खा लिया। वह अपने उद्योग को असत्य लक्ष्य के लिये गंवाना नहीं चाहते थे। वह सत्य व्रत को ही व्रत समझते थे और सब को पाखण्ड बताया करते थे। इसी बात का उन्होंने जीवन पर्य्यंत उपदेश किया। उनके लिये

"नहि सत्यात्परो धर्मः"

सत्य से अधिक कोई धर्म न था और सत्य को सामने रखकर वह हर एक बात की उपेक्षा कर सकते थे। वह धर्म के वाह्य रूप की अपेक्षा धर्म के तत्व को अच्छा समझते थे। परन्तु उनके पिता की चाल साधारण मनुष्यों जैसी थी। उनके लिये वाह्यरूप ही धर्म का सर्वस्व था। इसलिये उन्होंने प्रथम तो डाट को ही शङ्का का बहुत अच्छा समाधान समझा। पश्चात् जब उनको अपने पुत्र के व्रत-भङ्ग की वार्त्ता ज्ञात हुई तो वह और भी अधिक क्रुद्ध हुये, परन्तु अब हो ही क्या सकता था? तीर कमान से छूट चुका था। और सब के लिये तो बात वहां की वहीं रह गई। परन्तु मूलशङ्कर के मन के भीतर उसका प्रभाव बढ़ता ही गया।

प्रतीत होता है कि इस घटना के पश्चात् मूलशङ्कर का संसर्ग अधिकतर उनके चचा के साथ रहा। सम्भव है कि कट्टर शैव होने के कारण पिता अम्बाशङ्कर ने अपने संदेहमय पुत्र से सहानुभूति प्रकट करनी कम करदी हो। उनके अपने बताये हुये जीवन चरित्र से ज्ञात होता है कि उनके

चचा उनसे हित करते और उनके पठन-पाठन में योग देते थे। अध्ययन सामान्यतया ज़ारी रहा। तीक्ष्ण-बुद्धि मूलशङ्कर ने शीघ्र ही उपस्थित साधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाया और पठन-पाठन में दत्तचित्त रहे। परन्तु वह लकीर के फ़कीर न थे। जो पढ़ते थे उसका तद्वत् मान लेना उनको अभीष्ट न था। मनन करना और बात के तत्व को खोजना उनका स्वभाव था। उनका कुल सामवेदी था परन्तु उनको यजुर्वेद पढ़ाया गया था इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

अब एक घटना और हुई जिसने उनके आत्मा को अधिक परिष्कृत कर दिया। महात्मा बुद्ध को मृत्युदेव ने ही घर त्यागने की शिक्षा थी, और मूलशङ्कर के जीवन में भी इसी प्रकार की घटना ने परिवर्त्तन किया। थोड़े काल के अन्तर से उनके चाचा और बहिन की मृत्यु हो गई। उन्होंने अपने दो आत्मीयों को इस संसार से कूच करते देखा। वह यह समझ न सके कि यह लोग देह को छोड़कर कहां चले गये। जहां पहले उनके हृदय में यह प्रश्न उठा था कि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है वहां अब उनके हृदय में उसी से घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा प्रश्न उपस्थित हुआ कि मनुष्य जीवन क्या है? जन्म क्या है? मृत्यु क्या है? मनुष्य कहां से आता है और कहां चला जाता है? ये प्रश्न साधारणतया सभी के मन में उत्पन्न होते हैं। सभी नित्यप्रति

लोगों को पैदा होते और मरते देखते हैं परन्तु उनको यह प्रश्न व्यावहारिक प्रतीत नहीं होते। हम सदैव उन्हीं प्रश्नों पर अधिक विचार करते हैं जिनका हमारे विचार में जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। अन्य प्रश्न उठते तो हैं परन्तु अनावश्यक समझकर त्याग दिये जाते हैं। परन्तु मूलशङ्कर के लिये यह प्रश्न उनके जीवन का प्रश्न होगया। वह समझने लगे कि जीवन के आगामी कार्य्य-क्रम को निर्धारित करने के लिये इस प्रश्न के समाधान करने की परमावश्यकता है। और वह गुरुजनों से इसके विषय में बात चीत करने लगे। जहां उनको पता लगा कि अमुक परिडत योग्य है वहीं जाते और पूछते कि मौत क्या चीज़ है? यदि कोई योगी अपने निवासस्थान के निकट आता तो उसी के पास जाकर अपनी शङ्का को दूर करना चाहते। इस प्रकार कई वर्ष इसी खोज में व्यतीत हुये परन्तु संतप्त हृदय को शान्ति न मिली। यह वस्तुतः प्रकाश की दूसरी किरण थी जो एक उत्सुक हृदय को प्रकाश-पुंज की ओर निमन्त्रित कर रही थी।

काशी संस्कृत विद्या का केन्द्र है। वहां गये बिना विद्या का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता, ऐसा विश्वास भारतवासियों के हृदयों में सहस्रों वर्ष से चला आता है। मूलशङ्कर ने काशी जाने का विचार किया। उनको आशा थी कि काशी में उनके मनोरथ सफल हो जायंगे। परन्तु मा बाप के प्रेम ने उनको ऐसा करने की आज्ञा न दी। उनको भय हो गया था कि कहीं

उनका लड़का हाथ से न छिन जाय। अतएव घरवालों ने निकटवर्त्ती एक विद्वान पण्डित के समीप पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया। पण्डित जी थे तो विद्वान परन्तु सांसारिक होने के कारण वह अपने शिष्य की अभ्यान्तरिक इच्छाओं की पूर्त्ति करने में असमर्थ थे। शिष्य को व्याकरण की शुष्क पंक्तियों से ही प्रयोजन न था। वह आत्मदर्शन के प्यासे थे। उन्होंने एक दिन स्पष्टतया अपने अध्यापक से कह दिया कि मुझे एक अध्यात्म-गुरु चाहिये और उसी की खोज में मुझे घर छोड़ना है। अध्यापक महाशय ने अपना कर्त्तव्य समझा कि इस गुप्त रहस्य को मूलशङ्कर के माता-पिता के सम्मुख प्रकट करदें जिससे उनकी सांसारिक ख्याति में बाधा न आवे।

अब तो गुरु-जनों को भली प्रकार विदित हो गया कि मूलशङ्कर एक न एक दिन घर से अवश्य चल देगा। इस रोग का भारतवर्ष में एक ही उपाय समझा जाता है। अर्थात् दुपाये से चौपाया बना दिया जाय। वस्तुतः विवाह और गृहस्थाश्रम ऐसे बन्धन हैं जिन से छुटकारा होना प्रायः असम्भव ही है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने भीतर से धागा निकाल कर अपने चारों ओर ताना बाना पूरता है और अपने लिये एक कुकून बनाता है जिसमें उसकी मृत्यु हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य विवाह संस्कार रूपी कुकून अपने लिये तैय्यार

करता है। विवाह हुआ, बाल बच्चे हुये, सम्पत्ति आई, सारांश यह कि शनैः २ खोल की दीवारें अधिक जटिल और सुदृढ़ होती जाती हैं और अन्त को इन्हीं के मध्य में मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है। एक बार इस प्रकार का कुकून बनाने वाले कभी इस बन्दीगृह से मुक्त नहीं हो सकते। यह दृढ़तम क़ैदखाना है जिसकी दीवारों को क़ैदी स्वयं ही मज़बूत करता चला जाता है और जेलर को उसकी देख भाल की भी आवश्यकता नहीं होती।

पं० अम्बाशंकर और उनकी कोमल हृदया अर्द्धाङ्गिनी ने अपने पुत्र के लिये यही बन्दीगृह निश्चित किया और इसके निर्माण के लिये बड़े समारोह से तैय्यारियां होने लगीं। युवा मूलशंकर ने इस बात को सुना और अपनी मनोरथ सिद्धि में बाधक समझा। इस अवस्था के साधारण लड़के तो इस अवसर को अपने जीवन का सब से मधुर अंश समझते हैं। परन्तु इन के सन्मुख सुख भोग के सिवाय कोई अन्य लक्ष्य नहीं होते। मूलशङ्कर का लक्ष्य स्पष्ट था। उनके समस्त उद्योग उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये थे। इसलिये उन्होंने अपने मित्रों द्वारा विवाह के विरुद्ध अनुरोध करना आरम्भ कर दिया।

परन्तु इन लोगों के विचार उच्च न थे। वह मूलशङ्कर के लक्ष्य को समझने में सर्वथा असमर्थ थे। अतः ज्यों ज्यों मूलशङ्कार ने विवाह का प्रतिरोध किया त्यों त्यों मा बाप ने

विवाह करने की शीघ्रता की। अन्त को विवाह का अवसर समीप ही आगया। महात्मा बुद्ध का विवाह ऐसे समय हुआ था जब उनको वैराग्य का मान भी न था। उनको वैराग्य ऐसे समय उत्पन्न हुआ, जब एक तरुणि और एक छोटे बालक के पालन पोषण का भार वह अपने ऊपर ले चुके थे। अभी गृहस्थाश्रम में उन्होंने पग ही रक्खा था। न केवल उन्होंने स्वयं ही ऐसा किया किन्तु एक कोमल रमणी को भी अपने साथ उस आश्रम का धर्म-पालन करने के लिये निमंत्रित कर लिया था। अभी सम्पूर्ण आश्रम-यात्रा पार करने को शेष थी कि इतने में उनको वैराग्य हो गया और वह एक महान् कर्त्तव्य के लिये तात्कालिक कर्त्तव्य को त्यागने के लिये बाधित हो गये। आश्रम-धर्म के पालन करने में यह उनकी बात कहां तक न्याय संगत थी इसकी विवेचना करने का हम जैसे क्षुद्र जीवों को अधिकार नहीं है। परन्तु मूलशङ्कर के आत्मा में कर्त्तव्य परायणता के यह सब विचार अवश्य उठते होंगे। उन्होंने अपने असाधारण तर्क से जान लिया होगा कि यदि एक बार विवाह ग्रंथि पड़ गई तो उसका सुलझाना अनेक वर्षों तक दुस्तर होगा। और वह गृहस्थ धर्म के कर्त्तव्यों को पालन करने के लिये बाधित होंगे। ऐसी अवस्था में उनके उच्चतम भाव उसी प्रकार मुरझा जायंगे जैसे एक कली पर तुषार पड़ने से उसके जीवन का अन्त हो जाता है।

अतएव मूलशङ्कर ने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं अपना विवाह कदापि न होने दूंगा। जैसे स्वतंत्र चिड़िया पिंजड़े को तोड़ कर भागना चाहती है जिस प्रकार शेर लोहे के कटहरे को तोड़ देता है। उसी प्रकार सिंह-हृदय मूलशङ्कर ने गृहस्थ रूपी कटहरे को तोड़ कर फेंक दिया और कार्तिक मास सम्वत् १८५६ को एक दिन सायंकाल के समय घर से चल दिये।

तीसरा अध्याय

गुरु की खोज

घर से निकल कर मूलशङ्कर ने कपड़े रंग लिये। कमण्डल ले लिया और योगियों की खोज में तत्पर हुये।

भारतवर्ष एक योगप्रधान देश समझा जाता है। योग विद्या और अध्यात्म विद्या इस देश की विशेषता है। पाश्चात्य देशों और विशेष कर अमेरिका में इस की बड़ी प्रशंसा है। भारतवर्ष के साधारण पुरुष भी अमेरिका में योगी होने के कारण बड़ी ख्याति प्राप्त कर लेते हैं। अमेरिका निवासी एक महाशय स्वामी रामचरक ने भारतवर्षीय योग पर कई पुस्तकें भी लिखी हैं। परन्तु इस युग में योग के सम्बन्ध में बड़ी अन्धा-धुन्धी है। जिधर देखो उधर साधु और सन्यासियों का जमघट है। हर एक योगी होने का दम भरता

है। परन्तु सच पूछिये तो यह सब आडम्बरी और पाखण्डी हैं। योग के वास्तविक इच्छुक को इन से कोई शान्ति नहीं होती। नवयुवकों को तो यह अपनी ठग विद्या से नित्य प्रति बहकाया करते हैं। साधुओं के अनेक अखाड़े मिलेंगे जिनमें पंद्रह २ सोलह २ वर्ष के लड़के चिमटा हिलाते और अपने से चौगुनी आयु के बुड्ढों को बच्चा बच्चा कह कर पुकारा करते हैं। एक अनुभव रहित युवक के लिये बहुत बड़ी कठिनाई है। पहले तो योगियों की खोज करें। फिर यह जांच भी करे कि यह वास्तव में योगी हैं या नहीं। पाखण्डी गुरुओं के पाखण्डी चेले नित्यप्रति युवकों को अपने चंगुल में फंसाने के लिये फिरा करते हैं।

युवक मूलशङ्कर को इन सब कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी अवस्था इस समय केवल २१ वर्ष की थी। उनकी योग्यता केवल इतनी ही थी कि वह योग-विद्या के सच्चे इच्छुक थे। कोई योगी गुरु उनको न मिल सका था और उनके लिये विशेष आपत्ति यह थी कि सच्चे गुरु को कैसे पहिचाने। वह घर से निकल कर कई स्थानों में योगियों की खोज में फिरते रहे। कुछ दिनों पीछे उन्होंने सुना कि सिद्धपुर में एक मेला होने वाला है। वहां अनेक साधु इकट्ठा होंगे। इसलिये वह सिद्धपुर की ओर चल पड़े। सिद्धपुर उनके नगर से समीप ही है। वहां जाकर उन्होंने कई पण्डितों तथा वैरागियों से परिचय किया और एक मन्दिर

में अधिक उठने बैठने लगे। सिद्धपुर में जिस मनुष्य से उनका अधिक परिचय हो गया वह इनके पिता को भी जानता था। मूलशङ्कर के आत्मीय लोग उनकी खोज में थे। उनकी माता अपने पुत्र के शोक में पीड़ित हो रही थीं। पं० अम्बाशङ्कर के आदमी इधर उधर दौड़ रहे थे। इस समाचार को पाते ही अम्बाशङ्कर ने कुछ आदमी लेकर सिद्धपुर पर आक्रमण किया और नीलकण्ठ के मन्दिर में बैठे हुये मूलशङ्कर को गिरिफ़्तार कर लिया।

मूलशङ्कर के लिये यह एक अपूर्व घटना थी। ऐसा अनुभव उनको पहले प्राप्त न हुआ था। विवश होकर वह अपने पिता के साथ हो लिये। पिता भिगोये कपड़े और कमण्डल, देखकर आग बबूला हो गये। कमण्डल तोड़ डाला, और कपड़े फाड़ डाले। मूलशङ्कर को नये वस्त्र दिये गये। यदि मूलशङ्कर के पिता शान्ति से काम लेते और अपने पुत्र को कुछ स्वतंत्रता देने की प्रतिज्ञा करते तो सम्भव था कि मूलशङ्कर घर जाकर वहीं अपने उद्योग में तत्पर होते और उस दशा में भारतवर्ष और सम्भवतः संसार का इतिहास ही भिन्न होता। हिन्दु जाति के इतिहास में जो परिवर्तन होने वाला था उसकी वहीं इति श्री हो गई होती परन्तु दैव-इच्छा प्रबल थी। प्रत्येक घटना में सहस्रबाहु परमात्मा का हाथ था।

मूलशङ्कर को ले जाकर पहरे में रख दिया गया और सिपाहियों को आज्ञा हुई कि रात के समय भी जागते हुये

उनकी देख भाल करें। पं० अम्बाशंकर को भय था कि अवसर पाकर मूलशङ्कर फिर भाग निकलेगा। हुआ ऐसा ही। तीन रातें तो किसी प्रकार कटीं। परन्तु चौथी रात को सिपाही के सो जाने पर निरन्तर अवसर खोजने वाले मूलशंकर ने फिर प्रस्थान कर दिया। एक दिन तो भोजन और जल बिना केवल एक वृक्ष के ऊपर पत्तों में छिपे रहे। कर्त्तव्य-परायणता मनुष्य से क्या क्या नहीं कराती।

यह मूलशंकर का अन्तिम प्रयाण था। इसके पश्चात् उनको अपने पिता अथवा अन्य किसी आत्मीय के दर्शन न हुये। पिछली गिरिफ़्तारी से उनको अनुभव भी बहुत हो चुका था इसलिये अब वह परिचित मार्गों से यात्रा न करते थे। और बहुधा ऐसे समय चलते थे कि उन पर सन्देह न हो सके। शीघ्र ही वह अपने स्थान से दूर निकल गये। यहां हम थोड़ा सा वृत्तान्त इन महात्मा के निज शब्दों में ही देते हैं।

"मैं सिद्धपुर से नर्मदा तीर वर्त्ती प्रदेश में गया। वहां योगानन्द स्वामी के साथ मेरा साक्षात् हुआ। योगानन्द के साथ कृष्ण शास्त्री नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वे मुझको किसी २ विषय में शिक्षा दिया करते थे। और उसके पश्चात् उसी राजगुरु के साथ योगाभ्यास किया करता था। २३ वा २४ वर्ष की आयु के समय चाणोद में मेरी एक सन्यासी के साथ भेंट हुई। शास्त्रानुशीलन में मेरी प्रगाढ़ आकाङ्क्षा थी। और सन्यासाश्रम को शास्त्र की शिक्षा के

लिये सर्वापेक्षया सुविधा जनक समझकर उसी सन्यासी से मैंने दीक्षा ग्रहण करली (इन सन्यासी का नाम स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती था-ले०) । दीक्षा के पश्चात् मैं दयानन्द सरस्वती के नाम से परिचित हो गया। वहां दो राजयोग परायण जो स्वामियों के साथ भी मेरा साक्षात् हुआ। उनके साथ मैं अहमदाबाद को चला गया। वहां मेरा एक ब्रह्मचारी से मिलना हुआ। परन्तु मैं उनका संग छोड़कर हरिद्वार की ओर चला गया। उस समय हरिद्वार में कुम्भ का मेला था।" यह सन् १८५४ ई० की बात है। हरिद्वार से चलकर मूलशङ्कर महाशय जिनको हम अब से स्वामी दयानन्द सरस्वती कहेंगे हृषीकेश, टिहरी, रुद्र प्रयाग, गुप्त काशी, गौरीकुण्ड, शिवपुरी, तुङ्गनाथ, अखीमठ, जोशीमठ, बदरीनारायण, रामपुर, मुरादाबाद, फ़रुख़ाबाद आदि स्थानों से घूमते हुये सन् १८५५ ई० में कानपुर पहुंचे। वहां से काशी, इलाहाबाद आदि होते हुये नर्मदा के निकास की खोज में गये। इसके पश्चात् सन् १८५८ ई० में उनका मथुरा में आगमन हुआ इस समय स्वामी दयानन्द की अवस्था ३४ वर्ष की थी।

इस अन्तर की अनेक घटनायें उल्लेखनीय हैं। बारह तेरह वर्ष के निरन्तर भ्रमण ने स्वामी दयानन्द को अधिक अनुभवी बना दिया था। अब आयु में भी बहुत बड़ी परिपक्वता आगई थी। अनेक साधु सन्यासियों से परिचय हो गया था। परमानन्द परमहंस के अतिरिक्त व्यासाश्रम के योगानन्द,

वाराणसी के सच्चिदानन्द, केदारनाथ के गङ्गा गिरि, और ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि प्रभृतियों के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्त के दो सन्यासियों से दयानन्द ने योग विद्या गूढतत्व समूह की शिक्षा प्राप्त की। प्रत्युत यों कहना चाहिये कि योग शिक्षा के सम्बन्ध में वह इन पुरी और गिरि के ऋण सूत्र में निबद्ध थे। इनके अतिरिक्त कृष्ण शास्त्री और काशीस्थ काका राम और राजाराम शास्त्री प्रभृति सुपण्डितों के साथ भी उनका वार्त्तालाप और परिचय हो गया था।"

"व्याकरण पढ़ने से भिन्न वह उस समय अन्यान्य ग्रन्थों की आलोचना में भी रत रहते थे। परमानन्द परम ंस से वेदान्त पढ़ने...के अतिरिक्त जब वह टहरी में ठहरे हुये थे तो वहां के राजपण्डित विशेष से तन्त्र ग्रन्थों को लेकर पाठ करते थे। किन्तु उस पाठ से तंत्रों में उनकी उलटी अश्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। क्योंकि थोड़े ही पाठ करने से उन्होंने उनके भीतर भाषागत, भाष्यगत, और अर्थगत अनेकानेक अशुद्धियां देख ली थीं। विशेषतः उनका अधिकांश असंगति दोष से दूषित था। और उनके बीच में नितान्त निन्दनीय पापाचारों की परम पवित्र धर्म्म में गणना देखकर उन्होंने असीम घृणा के साथ तंत्र पाठ का परित्याग कर दिया।"

"बहुत से स्थानों में पर्यटन करने और बहुत से साधु सन्यासियों के सत्संग से उन्होंने जैसे योग विषयक नूतनतर

तत्वों को जान लिया था वैसे ही उन्होंने यह भी समझ लिया था कि उन तत्वों को कार्य्य में परिणित करने के निमित्त योगाभ्यास में अधिक समय लगाना आवश्यक है क्योंकि कोई ज्ञान भी, श्रुत हो अथवा पठित अभ्यास वा अनुशीलन के बिना कार्य्यकर नहीं हो सकता। सुतरां दयानन्द की योग चर्य्या का समय दिन प्रतिदिन दीर्घतर होने लगा।"

यद्यपि इस बारह वर्ष की दीर्घ यात्रा में स्वामी दयानन्द विद्या प्राप्ति और योग साधन दोनों ही करते रहे तौ भी अभी उनको अपनी इच्छा के अनुसार गुरु नहीं मिला था। बड़े २ धुरन्धर विद्वान भी उनकी शान्ति नहीं कर सकते थे। असाधारण शिष्य के लिये असाधारण ही गुरु चाहिये। अब तक जो गुरु मिले थे उनमें कुछ भी मौलिकता न थी। वे सब लकीर के फ़कीर थे। उनमें वह विद्युत शक्ति न थी जो स्वामी दयानन्द की आन्तरिक और गुप्त शक्तियों को विकास दे सके। उनमें ऐसा सामर्थ्य न था जो उनको अपने महान लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता दे सके। इसलिये जहां से जो मिल सका उसको ग्रहण करने के पश्चात् वह निरन्तर सच्चे गुरु की खोज में रहे।

उन्होंने सुन रक्खा था कि मथुरा में विरजानन्द नामी दण्डी रहते हैं और विद्या में बड़े निपुण हैं। इसीलिये वह मथुरा आये थे।

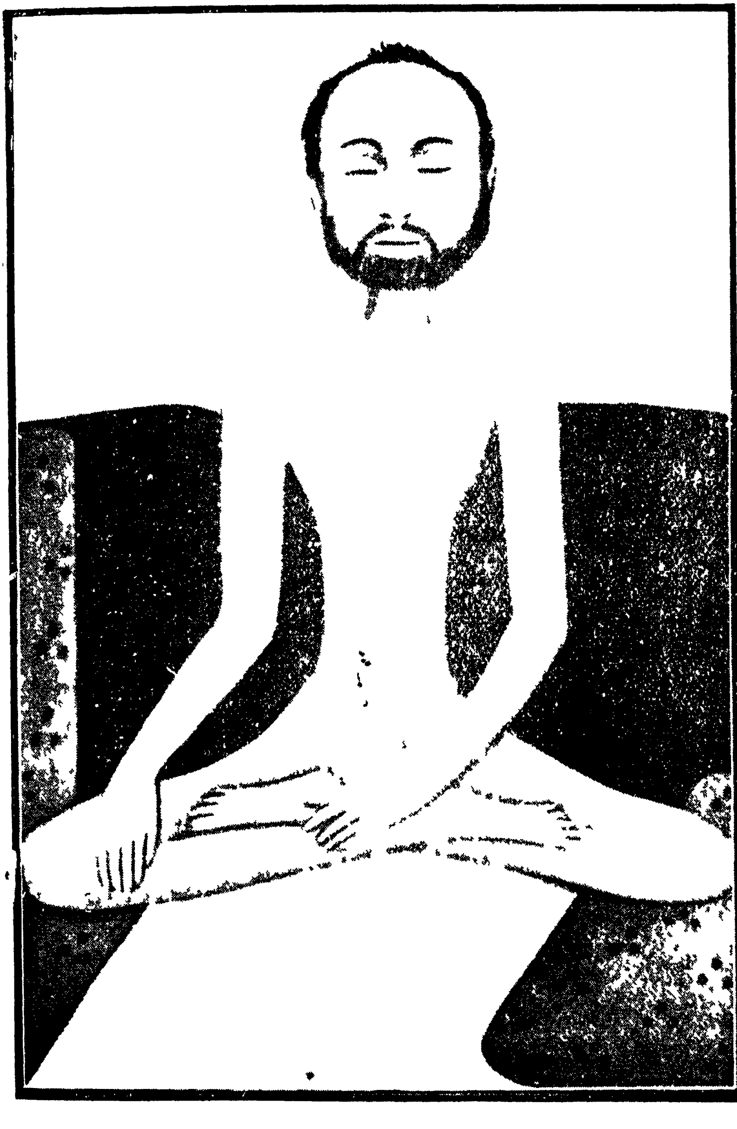
विरजानन्द पंजाब प्रान्त के कर्त्तारपुर नगर के निकटस्थ

किसी ग्राम के रहने वाले थे। यह सारस्वत ब्राह्मण थे। पांच वर्ष की अवस्था में ही इनकी आंखें जाती रही थीं और अपने भाई भौजाई की क्रूरताओं से तंग आकर उनको दस ग्यारह वर्ष की आयु में ही घर छोड़ना पड़ा था। परन्तु वाह्य चक्षुओं के बदले ईश्वर ने उनकी भीतरी आंखें खोल दी थीं। ऐसे प्रौढ़ विद्वान् संसार में कम होते हैं। मालूम होता है कि उन्होंने घर से निकल कर ही सन्यास ले लिया था। कुछ दिनों तो हृषीकेश में रहे। "वहां अधिकतर समय गङ्गा के जल में निमज्जित होकर गायत्री मंत्र के जप में लगाते थे।" फिर वह कनखल चले आये और पूर्णाश्रम नामी सन्यासी से व्याकरण पढ़ते रहे। वहां से गया, काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में भ्रमण करते हुये सोरों (ज़िला एटा) में रहने लगे।

सोरों में अलवर नरेश महाराज विनयसिंह के साथ विरजानन्द जी अलवर पहुंचे। वहां महाराज ने स्वामी जी से संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया था और प्रति दिवस तीन घण्टे तक पढ़ा करते थे, एक दिन किसी विशेष कार्य्य से राजा साहेब पाठ के लिये उपस्थित न हो सके। स्वामी विरजानन्द इसी बात से रुष्ट हो गये और समस्त सामग्री वहीं छोड़कर सोरों चले आये। इस घटना से विरजानन्द जी के चरित्र पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। वह कर्म्मनिष्ठ, अपूर्व विद्वान और निर्भीक थे। लोभ उनको किंचित भी

नहीं था, राजा महाराजा की परवाह न थी। वह अलवर केवल इसी शर्त पर गये थे कि महाराज को विद्या पढ़ायेंगे। सम्भव है उन्होंने सोचा हो कि एक प्रसिद्ध राज्य के शासक को पढ़ाने से अधिक उपकार होगा। अलवर नरेश भी उनका सत्कार करते थे और विशेष राज्यकार्य्य में उनसे परामर्श भी करते थे। इस प्रकार के महान सन्यासियों का राजसभाओं में रहना राजों को अनेक कुव्यसनों और प्रजा को अनेक दुःखों और अत्याचारों से बचा देता है। परन्तु विरजानन्द जी को क्रोध अधिक था। सम्भव है उन्होंने सोचा हो कि राजों महाराजों को नियमानुसार पढ़ाना कठिन है। इसीलिये उन्होंने अलवर त्याग दिया और गङ्गा के तीर फिर आ बसे। सोरों से यह भरतपुर भी गये। परन्तु अन्त में मथुरा रहने लगे। ३२ वर्ष मथुरा में वास करने के पश्चात् ६१ वर्ष की आयु में आश्विन बदी १३ सोमवार सम्वत् १९२५ विक्र० (सन् १८६८) को शरीर त्याग दिया।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि परमात्मा ने वाह्य गोलकों के बदले विरजानन्द को आन्तरिक चक्षुयें दी थीं। वह वास्तविक प्रज्ञा चक्षु थे। उनकी स्मृति ऐसी प्रबल थी कि एक बार बोलने से ही पाठ को कण्ठ कर लेते थे उनको बार २ घोंटने की आवश्यकता न होती थी। यही कारण था कि अन्धे होते हुये भी उनको शास्त्र,कण्ठ थे। वह प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रेमी थे, वेद पर उनको निष्ठा थी। वैदिक धर्म को अपूर्व और



परिव्राजकाचार्य्य श्री स्वामी विरजानन्द जी महाराज

वैदिक जीवन को ही जीवन का सार मानते थे। परन्तु नवीन और अनार्ष ग्रन्थों से उन को घृणा भी बहुत थी। उनका विचार था कि अनार्ष ग्रन्थों ने ह । सत्य सनातन वैदिक धर्म का लोप कर दिया। वर्त्तमान पंण्डित मण्डल से भी उनको घृणा हो चुकी थी। इस का कारण एक विचित्र घटना थी। कहते हैं कि अष्टाध्यायी के किसी सूत्र पर श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव रंगाचारी और विरजानन्द जी में शास्त्रार्थ हो पड़ा। रंगाचारी सिद्धान्त कौमुदी की सहायता से किसी पद विशेष को सप्तमी तत्पुरुष कहते थे और विरजानन्द जी अष्टाध्यायी का अनुसरण करके उसे षष्ठी तत्पुरुष बताते थे। झगड़ा अधिक बढ़ा और काशी के पण्डितों तक की सम्मति मांगी गई। रंगाचारी एक बड़ी गद्दी के अधिपति थे। उनके शिष्यों में धन की कमी न थी। बात की बात में लाखों व्यय कर सकते थे। झगड़ा इतना बढ़ गया था कि जिस पक्ष को पराजय होती उसी की ख्याति में बट्टा लगता। विरजानन्द जी धन शून्य लंगोट बंद सन्यासी थे, सत्य ही उनका आश्रय था। परन्तु रंगाचारी की ख्याति में बट्टा लगने से उन के यशरूपी राज्य में विप्लव हो जाने का भय था उनके शिष्य अपने गुरु के मान को सत्य से भी अधिक प्रिय समझते थे अतः उन्होंने काशी के विद्या दिग्गजों को अपनी ओर मिला लिया। जो बात पाण्डित्य से सिद्ध न हो सकी थी उसको रुपयों की झन्कार ने सिद्ध कर दिया। लक्ष्मी और सरस्वती में सौतिया डाह प्रसिद्ध है। और लक्ष्मी ने

अनेक बार सरस्वती को पराजित कर दिया है। काशी के वाचस्पतियों का धनपतियों के वश में आ जाना कोई असाधारण घटना नहीं है।

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीन।"

रंगाचारी के पक्ष में व्यवस्था दे दी गई और विरजानन्द पराजित हो गये। परन्तु विरजानन्द की पराजय विद्या की पराजय थी। परन्तु विरजानन्द इस प्रकार मानने वाले न थे। उनको खेद था तो यह कि काशी जैसे संस्कृत विद्या के केन्द्र में भी विद्या और सत्य का इस प्रकार तिरस्कार होता है। उन्होंने तभी से शेखर, कौमुदी, मनोरमा आदि व्याकरण के आधुनिक ग्रन्थ तिरस्कृत कर दिये थे। केवल पाणिनि को ही प्रमाणित मानते थे और सब को कपोल कल्पित कहते थे। यहां तक कि भागवत आदि पुराणों को भी वेद विरुद्ध और गप्प समझते थे। उन्होंने कौमुदी को पढ़ाना बन्द कर दिया था। जो विद्यार्थी उनके पास आता उसको वह यही परामर्श देते थे कि पहले आधुनिक ग्रन्थों को भूल जाओ तभी आर्ष ग्रन्थ पढ़ सकोगे। उनको भट्टोजी दीक्षित कृत कौमुदी से इतनी घृणा थी कि इस घृणा का अपना शिष्यों के हृदयों में पूर्ण समावेश करने के लिये वह उनसे कौमुदी की पुस्तक में जूते लगवाया करते थे।

एक बार उन्होंने यह प्रयत्न भी किया था कि अनार्ष ग्रन्थों के प्रचार को सर्वथा भारतवर्ष से वहिष्कृत कर दें। इस

कार्य्य के लिये उन्होंने जयपुर नरेश महाराज रामसिंह को उत्तेजित किया। जब वह आगरे आये तो विरजानन्द जी उनसे मिले और कहा कि आप एक बड़ी सभा कीजिये जिसमें भारत के सब राजे और सब विद्वान परिडत आवें। मैं उनके सामने शेखर कौमुदी आदि अनार्ष व्याकरणों का खण्डन करूंगा। महाराज रामसिंह ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। और इसके लिये तीन लाख रुपयों व्यय करने के लिये भी उद्यत हो गये। यदि यह सभा हो जाती तो बहुत ही अच्छा होता। परन्तु सत्य के दबाने में स्वार्थ का भी बहुत बड़ा हाथ है। जब कोई असत्य मत संसार में प्रचलित हो जाता है तो लाखों आदमियों के पेट उसी असत्य के सहारे पलने लगते हैं। ऐसे समय में यदि कोई महापुरुष सत्य-प्रदर्शन का प्रस्ताव करता है तो उन सब पेटों में खलबली मचने लगती हैं। लोग दूर दूर की सोचने लगते हैं किसी को अपने यश की चिन्ता होती है, कोई अपनी ख्याति की रक्षा करने का उपाय सोचता है। कोई अपनी आजीविका छूट जाने को डरता है। इस प्रकार एक सत्य के अनेक शत्रु उठ खड़े होते हैं। यही हाल इस समय भी हुआ। महाराज रामसिंह के जयपुर पहुंचते ही मंत्रिगण तथा परिडत मण्डल ने उनके मन से इस प्रकार की सभा बुलाने का विचार दूर कर दिया।

विरजानन्द जी अब क्या करते! चुप बैठे रहे। धन पास

न था, वृद्धावस्था थी। नेत्र हीनता भी अधिक परिश्रम में बाधक थी। परन्तु उन्होंने आर्ष ग्रन्थों के पढ़ाने का कार्य्य निरन्तर जारी रक्खा। और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जब उनका कोई योग्य शिष्य खड़ा होकर उनके उद्देश्य की पूर्त्ति कर सके।

इधर शिष्य दयानन्द सच्चे गुरु की खोज में थे। उधर गुरु विरजानन्द को भी सच्चे शिष्य की तलाश थी। संसार में सच्चे गुरु और सच्चे शिष्य दोनों ही दुर्लभ हैं। सत्य की खोज और सत्य का प्रचार ही उनका जीवनोद्देश्य होना चाहिये। वास्तविक गुरु और वास्तविक शिष्य वही हैं जो अपने सच्चे हृदय से इस श्रुति का पाठ कर सकें।

"सहनाववतु सहनौ भुनक्त। सहवीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥"

वस्तुतः स्वामी दयानन्द और स्वामी विरजानन्द ऐसे ही शिष्य और गुरु थे। उनकी अवस्थाओं में भी ऐसा ही अन्तर था। स्वामी दयानन्द पूर्ण युवा ३४ या ३५ वर्ष के लगभग थे। गुरु विरजानन्द ८१ वर्ष के हो चुके थे। विद्या के गम्भीर महोदधि में डुबकियां लगाने के अतिरिक्त उनका अनुभव भी तीन चौथाई शताब्दी से अधिक हो चुका था। इस अवस्था में मनुष्य की अपनी मृत्यु पर ही दृष्टि रहती है विशेष कर विद्या योग तथा बुद्धि का स्वामी तो संसार के समस्त विषय भोग से विरक्त हो चुकता है। गुरु विरजा-

नन्द की यही दशा थी। प्रातःकाल से पूर्व योग करते और सूर्य्यास्त के पश्चात् भी योग में निमग्न हो जाते थे। दो घण्टे सोना ही उनके शरीरावलम्बन के लिये पर्य्याप्त था। दूध और फल ही उनका विशेष भोजन था। पूर्वाह्न और अपराह्न में अध्यापन का कार्य करते थे। अपनी विद्या को अपने पीछे सुरक्षित छोड़ जाना ही उनकी एक मात्र अभिलाषा थी। इसी अमूल्य कोष के लिये उपयुक्त कोष-गृह की खोज थी। मानों ८१ वर्ष का बुड्ढा यही सोच रहा था कि कोई मुझ से वैदिक कोष की कुंजी लेले और मैं संसार से चल दूँ।

चौथा अध्याय

गुरु के चरणों में।

स्वामी दयानन्द १८५८ ई० की गर्मियों में मथुरा आये थे। उस समय भारतवर्ष की विचित्र अवस्था थी। एक वर्ष पूर्व यहां के निवासियों ने अंगरेज़ों की आधीनता से स्वतंत्र होने के लिये अनेक प्रयत्न किये थे। वीरता, निष्कपटता, स्वार्थ-त्याग के साथ कायरता, अत्याचार, घोर हत्याकाण्ड तथा स्वार्थ आदि दुष्ट भावों ने भी अपना योग दिया था। फल वही हुआ जो होना था अर्थात् विफलता। स्वतंत्र तो सभी होना चाहते हैं परन्तु स्वतंत्रता के लिये एक विशेष भवन चाहिये। स्वतंत्रता की देवी उन गन्दे मन्दिरों में नहीं रहती जहां वैर

भाव, अविद्या, दुराचार और स्वार्थ का कूड़ा पड़ा हो। भारत वर्ष इन बीमारियों के लिये कई सहस्र वर्षों से प्रसिद्ध रहा है। महाभारत के समय भी इन रोगों की कमी न थी। परन्तु शनैः २ इन में आधिक्य ही होता गया। हिन्दुओं के पश्चात् मुसल्मानी राज्य और मुसल्मानी राज्य के पश्चात् सिक्ख, मरहठा आदि के उत्थान, पतन और उसके पश्चात् अंगरेज़ों के आगमन का कारण भी यही रोग हुये थे। रोग आन्तरिक था परन्तु समझा यही जाता था कि यह बाहिरी रोग है और विद्रोह से दूर हो जायगा। हिन्दू जाति की संगठन-शक्ति नष्ट हो चुकी है। वह गुण जो संगठन में साधक होते हैं लुप्तप्राय हो गये हैं। जाति रूपी पुस्तक के पन्ने तितर बितर फैले पड़े हैं। जिल्द टूट गई हैं। गोंद नष्ट हो चुका है फिर सफलता हो तो कैसे। यह संगठन, यह स्वार्थ त्याग, यह ईश्वर विश्वास विद्रोह से नहीं आता और नहीं आया। १८५७ ई० का विद्रोह पुराल की आग के समान उठा और दब गया। इस समय उसकी केवल राख पड़ी थी। जिस अंगरेज़ी शासन को हटाने के लिये विद्रोह किया गया वह राज्य अधिक दृढ़ता से जम गया।

स्वामी दयानन्द का आत्मा कुछ कम स्वतंत्रता-प्रिय न था। वस्तुतः स्वतंत्रता का जो प्रेम इन के हृदय में उपस्थित था वह तो संसार के अन्य किसी हृदय में शायद उपस्थित ही न होगा। वह न केवल शासन सम्बन्धी शृङ्खलाओं से ही

मुक्त होना चाहते थे किन्तु जीवन की सभी प्रकार की आधीनता उनको असह्य थी। ३४ या ३५ वर्ष के वीर युवक के हृदय में देश के स्वतंत्रता के लिये हाथ पैर मारते देख कर न जाने क्या क्या भाव उठते होंगे। स्वामी दयानन्द ने इस विषय में कोई लेख या कथन नहीं छोड़ा है। परन्तु एक बात स्पष्ट है। उनके सामने एक महान् उद्देश्य था। वह संसार को पराधीनता से छुड़ाना चाहते थे। वह पराधीनता के मूल कारण को नष्ट करना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने निर्दिष्ट और नियत मार्ग का त्याग नहीं किया वह अपने पथ से विचलित नहीं हुये। यह धृति उनके समस्त कार्य्यों में पाई जाती है। वह अटल और अटूट्य शिला के समान संसार सागर में स्थिर रहते थे। कोई प्रलोभन, कोई भीरुता, कोई यश, कीर्त्ति या अन्य चमकीले पदार्थ उनको डिगा न सकते थे।

जिस समय स्वामी दयानन्द ने गुरु विरजानन्द का द्वार खटखटाया तो कहते हैं कि पहलेपहल विरजानन्द ने उनको पढ़ाना स्वीकार न किया। स्वामी दयानन्द संन्यासी थे। उस समय और आजकल भी लाखों सन्यासी चिमटा हिलाये दिखाई पड़ते हैं जिनका न तो कोई उद्देश्य है न उनके आचार व्यवहार का ठीक। स्वामी विरजानन्द ऐसे व्यक्तियों पर अपना समय तथा श्रम नष्ट नहीं करना चाहते थे। उनको भय था कि न जाने कब इस साधु का मन उचट जाय और चिमटा

उठा कर चलता बने। परन्तु अति शीघ्र ही स्वामी दयानन्द ने उनको निश्चय करा दिया कि उनके मन में सत्य-ग्रहण करने की अपूर्व इच्छा है।

अध्ययन के विषय में गुरु की स्वीकृति लेकर स्वामी दयानन्द ने अपने रहन सहन का भी प्रबन्ध कर लिया। वस्तुतः हर स्थान पर ऐसे प्रेमी और श्रद्धालु पुरुष मिल जाते हैं जो ऐसे सज्जनों की सहायता कर सकें। विश्राम घाट पर लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की एक कोठरी स्वामी दयानन्द के निवास स्थान के लिये नियत हुई। और पहले दुर्गा प्रसाद खत्री के घर और उसके पश्चात् अमरलाल ज्योतिषी बाबा के घर भोजन का प्रबन्ध हो गया। अमरलाल एक प्रसिद्ध ज्योतिष् विद्या के पण्डित थे। इसी पाण्डित्य के कारण सींधिया नरेश ने उनको कई गांव दान दिये थे जिनकी आय से वह नित्य सौ ब्राह्मणों को भोजन खिलाया करते थे। अमरलाल गुजराती ब्राह्मण थे। इसलिये वह स्वामी दयानन्द को सजातीय समझ कर उन पर विशेष प्रेम करते थे। स्वामी दयानन्द का स्वयं यह कथन है कि "भोजन और ग्रन्थादि के सम्बन्ध में मुक्तहस्त से सहायता करने के कारण मैं अमरलाल का अत्यन्त बाधित हूं। भोजन के विषय में वह इतने प्रयत्नवान् थे कि मेरे भोजन का प्रबन्ध किये बिना आप भोजन नहीं करते थे"।

अब अध्यापन आरम्भ हुआ। गुरु विरजानन्द की पहली

शिक्षा यही थी कि अनार्ष ग्रन्थों को भूल जाओ। यह उनके पाठ का पहला शब्द होता था। सम्भवतः स्वामी दयानन्द को भी भट्टोजी दीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी पर जूते लगाने पड़े होंगे। इस बात को कुछ आधुनिक विद्वानों ने घृणा की दृष्टि से देखा है। परन्तु वह गुरु विरजानन्द के भाव को नहीं समझ सके हैं। वस्तुतः आर्ष ग्रन्थों का लुप्तप्राय हो जाना और अनार्ष ग्रन्थों को सर्वसम्मानित होना ऐसा भयङ्कर रोग था जिसके लिये कड़वी से कड़वी औषधि की आवश्यकता थी। स्वामी दयानन्द ने अपने "सत्यार्थ प्रकाश" में स्वयं अनार्ष ग्रन्थों को विष के तुल्य बतलाया है। विष के साथ जो कुछ घृणा का व्यवहार किया जाय वह कम नहीं है।

गुरु विरजानन्द जी उच्चारण पर भी बहुत ध्यान देते थे। संस्कृत पाठशालाओं में इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। संस्कृत के विद्यार्थी स, श, ज, ज़, ख, ष, ज, य आदि को एक ही प्रकार से पढ़ते हैं। ज्ञ का उच्चारण तो सर्वथा ही व्याकरण के विरुद्ध होता है। स्थान और प्रयत्न विषयक पाठ पढ़ाये तो जाते हैं परन्तु उनको व्यवहार में लाया नहीं जाता। संस्कृत जैसी पूर्ण और विज्ञानानुसारिणी भाषा के लिये शुद्ध उच्चारण की कितनी आवश्यकता है और किंचित अशुद्ध उच्चारण से कितना अर्थ भेद हो जाता है उसका उदाहरण हम भट्टि काव्य के निम्नलिखित श्लोक से देते हैं।

"यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत शकृत्॥"

गुरु विरजानन्द के संरक्षण में स्वामी दयानन्द की उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियां दूर हो गईं। इस बात पर उनके पूर्व अध्यापकों ने अधिक ध्यान नहीं दिया था। स्वामी दयानन्द ने स्वयं "सत्यार्थ प्रकाश" के तीसरे समुल्लास में उच्चारण पर बहुत बल दिया है और माताओं को उपदेश दिया है कि बच्चों का उच्चारण बचपन से ही ठीक किया करें।

"दयानन्द उनके पास पाणिनि और पाणिनि के अनुपम व्याख्या रूप महाभाष्य के पाठ में प्रवृत्त हुये। उसके पश्चात् उपनिषद्, मनुस्मृति, ब्रह्मसूत्र, और पतञ्जलि के योग सूत्र प्रभृति दर्शनशास्त्रों को अध्ययन करने लगे। क्रमशः वेद और वेदाङ्गों के भी पाठ में प्रवृत्त हुये"।

"दयानन्द अपने आचार्य के अदृष्टपूव प्रभाव को देखकर विमोहित होने लगे, उनके अपरिमित पांडित्य और अत्यन्त आश्चर्य्यमय शक्ति का परिचय पाकर वह विस्मित हो गये। उन्होंने अनेकानेक आचार्य्यों के पास अध्ययन किया था। परन्तु इससे पूर्व विरजानन्द के समान आचार्य्य और कहीं नहीं मिला था। सूर्यमण्डल से जैसे अविश्रान्त तेज की राशि निःसृह होती है अथवा निर्भर से जैसे अनवरत जल धारा निर्भरित होती है वैसे ही दयानन्द ने देखा कि विरजानन्द



श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

[देखो पृष्ट १३४]

के वागिन्द्रिय से नाना शास्त्रों के नाना प्रसङ्ग अविरत रूप से विनिर्गत होकर शिष्य मण्डली को विमोहित करते हैं और यह भी देखा कि वह चक्षुहीन होने पर भी अपनी प्रज्ञाचक्षु के द्वारा सब शास्त्रों के सब स्थानों को देखकर जिज्ञासित विषय को उत्तमरूप से सिद्ध कर देते हैं और विशेषतः यह देखा कि उनका देहयष्टि अस्थियों का पिंजर रह जाने पर भी वह युवाजन के समान उत्साह और तेजस्विता के साथ शास्त्र की व्याख्या में व्यापृत रहते हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य का यह विषय था किसी ग्रन्थ वा किसी ग्रन्थ के पत्र को जन्म काल से न देखने पर भी अपनी सर्व विषय ग्राहिणी स्मृति-शक्ति के प्रभाव से क्या व्याकरण शास्त्र, क्या साहित्यसंहिता, क्या वेद वेदान्त, सब विद्याओं के सब प्रकार के तत्वों की एक एक बात को समझा देते थे। जैसे विरजानन्द के समान आचार्य्य दयानन्द ने कभी नहीं देखा था वैसे ही दयानन्द के समान भी कोई शिष्य विरजानन्द के पास कभी नहीं आया था। सुतरां दयानन्द जिस प्रकार विरजानन्द को एक अनन्य असाधारण आचार्य्य समझने लगे, उसी प्रकार विरजानन्द भी दयानन्द को एक असाधारण शिष्य समझने लगे। फलतः यह आचार्य्य-शिष्य का सम्मिलन दोनों के ही पक्ष में उत्साह और आनन्द का कारण हो गया था। विरजानन्द दयानन्द को "काल जिह्व" कहा करते थे—काल जिह्व वह कि जिसकी जिह्वा काल के

समान हो अर्थात् असत्य और भ्रान्ति जाल के खण्डन में दयानन्द की जिह्वा काल के समान होगी यह उनके हृदय-ङ्गम हो गया। इसके अतिरिक्त वह उन्हें "कुलङ्कर" नाम से भी पुकारा करते थे। दयानन्द विचार क्षेत्र में 'कुलङ्कर' या खूंटे के समान अविचलित रह कर विरुद्ध पक्ष को पराजित करेंगे—यह भी वह जान गये थे। पूर्वोल्लिखित वेदादि ग्रन्था-नुशीलन के भिन्न दयानन्द ने विरजानन्द से भागवत आदि पुराण की खण्डन विषयक शिक्षा भी प्राप्त की थी। आर्ष ग्रन्थ की क्या पहचान है और अनार्ष या मनुष्य रचित ग्रन्थों का क्या लक्षण है उन्होंने यह विषय भी उनको विशेष रूप से समझा दिया था। मनुष्य रचित ग्रन्थों के प्रभाव और प्रतिष्ठा के विद्यमान रहने से आर्ष ग्रन्थ का अध्ययन और आदर आशानुरूप नहीं होगा—इस विषय की भी उन्होंने यथोचित शिक्षा प्रदान कर दी थी। और आर्ष ग्रन्थों के अनध्ययन और अनादर के हेतु ही भारत भूमि सैकड़ों प्रकार के साम्प्र-दायिक धर्म्मों में विभक्त हो गई है और भारत समाज सब प्रकार की आवर्जनाओं का अधिकरण हो गया है। इसको भी उन्होंने अपने प्यारे शिष्य के प्रसारित हृदय में विलक्षण रूप से अङ्कित कर दिया था। इसके अतिरिक्त विरजानन्द की चारित्रशक्ति दयानन्द के भीतर संक्रामित हो गई थी। महा-पुरुषों की इच्छाशक्ति अति प्रबला होती है और वह इस प्रबला शक्ति द्वारा अपने प्रभाव को दूसरों के भीतर प्रविष्ट

कर सकते हैं यह स्यात् सभी जानते हैं। परन्तु सभी आधारों में उनकी शक्ति संक्रामित हो जाती है ऐसा नहीं है। अस्तु, जिस प्रकार महाद्वीप समीपस्थ छोटी २ द्वीपावली को अधिकतर उद्भासित कर देता है उस प्रकार विरजानन्द ने भी अपनी शक्ति और दीप्ति द्वारा दयानन्द की शक्ति और दीप्ति को द्विगुणित कर दिया था"।

मथुरा की वर्तमान् परिस्थिति ब्रह्मचर्य पालन के लिये सर्वथा अनुकूल नहीं है। प्रायः सभी तीर्थ स्थानों की यही दशा है। धन की पुष्कलता और ज्ञान का अभाव चरित्रहीन होने में बड़ा सहायक होता है। और विद्यार्थियों के सामने प्रलोभनों की पोटली खोल देता है। मथुरा तो इसके लिये प्रसिद्ध सी हो रही है। योगिराज श्रीकृष्ण की जन्मभूमि रासलीला का घर बन रही है। स्वामी दयानन्द ने स्वयं एक स्थान पर वृन्दावन को वैश्यावन कहा है। ऐसे स्थान में स्वामी दयानन्द का अपूर्व तप और अखण्ड ब्रह्मचर्य्य के साथ अध्ययन करना कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी दयानन्द मथुरा में पानी में कमल के समान रहे। ऐसे दैवीपुरुषों का पालन पोषण भी दैवीशक्तियों द्वारा होता है। साधारण मनुष्यों के मस्तिष्क में ऐसी बातें नहीं आ सकतीं। प्रथम तो स्वामी दयानन्द की निश्चत वृत्ति और दूसरे गुरु विरजानन्द का संसर्ग। इसने सोने पर सुहागे का काम किया। और छः सात वर्ष में स्वामी दयानन्द कुछ और ही बन गये।

पांचवां अध्याय

गुरुदक्षिणा के लिये प्रयत्न

स्वामी दयानन्द गुरु विरजानन्द के पास १८५८ ई० में आये थे। सन् १८६५ ई० तक उन्होंने अध्ययन् किया। अब पाठ समाप्त करके दीक्षान्त संस्कार की बारी आई। दयानन्द पहले से ही सन्यासी थे, बाह्य चिह्नों और बाह्य रस्मों की उन को आवश्यकता न थी। परन्तु गुरुजी से विदा होने के पहले गुरुदक्षिणा की आवश्यकता थी। भारतवर्ष में गुरु-शिष्य का जो सम्बन्ध है वह संसार के किसी देश में नहीं पाया जाता। यहां अब तो प्रथा बदल गई है और पाश्चात्य प्रभाव ने पूर्वीय भावों को आच्छादित कर लिया है। परन्तु प्राचीन और वैदिक प्रथा के अनुसार गुरु और शिष्य का जो सम्बन्ध रक्खा गया है वह बड़ा ही अद्भुत और गौरवान्वित है। आजकल शिष्य गुरु को फीस देता है और पढ़ चुकने पर स्वतंत्र हो जाता है। मानो विद्या एक वस्तु है। गुरु ने धन लेकर उसको बेच दिया। दुकानदार और ग्राहक का यहीं तक सम्बन्ध है। परन्तु वैदिक प्रणाली इससे भिन्न थी। जिस प्रकार माता-पिता अपना पितृऋण चुनाने के लिये सन्तानोत्पत्ति करते थे इसी प्रकार गुरु अपना ऋषि ऋण चुकाने के लिये स्वयं अधीत विद्या को शिष्य को दान देता था। माता-पिता सन्तान को इसलिये उत्पन्न नहीं करते कि इससे क्या

मिलेगा किंतु इसलिये कि उनके भीतर एक शक्ति है (potentiality) जिसका प्रादुर्भाव (actualization) आवश्यक है। इसी प्रकार गुरु के भीतर विद्या रूपी शक्ति है जिसका प्रादुर्भाव शिष्य द्वारा ही हो सकता है। इसलिये जब शिष्य आता है और वेदारम्भ संस्कार होता है तो गुरु शिष्य दोनों प्रतिज्ञा करते हैं।

"मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु"

कि हम दोनों का चित्त एक हो। उन दोनों का एक ही उद्देश्य होता है अर्थात् विद्या की सन्तति और शृङ्खला को आगे बढ़ा दिया जाय। वस्तुतः पठन-पाठन स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु इस वेदमंत्र की आज्ञापालन के लिये है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय,
च स्वाय चारणाय च ॥
प्रियोदेवानां दक्षिणायै।
दातुरिह भूयसमयं मे कामः।
समृद्ध्यतामुपमादो नमतु।"

इसके अनुसार गु शिष्य में अटूट्य सम्बन्ध हो जाता है और दृष्ट या अदृष्ट यह भाव जीवन पर्यन्त रहता है। आदर्श गुरु और आदर्श शिष्य का यही लक्षण है। स्वामी दयानन्द आदर्श शिष्य थे और गुरु विरजानन्द आदर्श गुरु। न

दयानन्द ने स्वार्थ के लिये पढ़ा था और न विरजानन्द ने स्वार्थ के लिये पढ़ाया था। परन्तु प्रथा के अनुसार विदा के समय दक्षिणा आवश्यक थी। दयानन्द के पास था ही क्या जो वह देते और वस्तुतः विरजानन्द को धन की आवश्यकता भी न थी। सोच विचार कर दयानन्द ने निश्चय किया कि आध सेर लौंगें ही पर्य्याप्त होंगी। गुरु विरजानन्द लौंग बहुत खाते थे। इसको वह बुद्धिवर्धक समझते थे। लौंग का हिन्दुओं में बहुत मान है। देवी देवता पर चढ़ाने के लिये यह बहुत उपयुक्त होती है। यह प्रथा कब आरम्भ हुई यह कहना कठिन है। दयानन्द ने लौंगें एकत्रित करके गुरु के सामने रक्खीं। और आशीर्वाद के लिये प्रार्थी हुये। परन्तु विरजानन्द इतने से कब सन्तुष्ट होने वाले थे। यह लौंगें तो साधारण शिष्य भी मांग कर लासकता था। उनको तो दयानन्दोचित दक्षिणा ही अभीष्ट थी। इस दक्षिणा के वह बहुत दिनों से अभिलाषी थे। इस अभिलाषा के सहारे उन्होंने शिष्यों को पढ़ाने में समस्त जीवन व्यतीत कर दिया था। उनको अब तक कोई ऐसा शिष्य नहीं मिला था जो उनकी अभिलाषा को पूरी कर सके। नेत्रहीन बूढ़े ने इसी प्रतीक्षा में ८८ वर्ष गुज़ार दिये थे। अब बड़े सौभाग्य से दयानन्द जैसा शिष्य मिला। इससे उनको बड़ी बड़ी आशायें थीं। विरजानन्द जिस दक्षिणा के इच्छुक थे उसको केवल दयानन्द ही दे सकते थे। बड़े से बड़े सम्राट् के वश में भी वह दक्षिणा न थी। अतः गुरु ने

जहां लोगों को लेकर दयानन्द को आशीर्वाद दिया, वहां उसके साथ ही अपने अभीष्ट मनोरथ को भी प्रकट कर दिया अर्थात् "हे पुत्र व्रत करो कि भारतवर्ष में वैदिक धर्म का प्रचार और वेद विरुद्ध मतों का खण्डन करोगे।"

यह दक्षिणा कितनी कठिन थी। इसको तो पाठक गण मन में ही विचार सकते हैं। इस के लिये तन, मन तथा समस्त जीवन की आवश्यकता थी। वैदिक धर्म सर्वथा लोप हो चला था। वेदानुयायी कहलाने वाले भी बहुत कम थे और जो रह गये थे उनके घर और उनके जीवन सर्वथा वेदों की पुस्तकों और वैदिक भावों से शून्य थे। समस्त संसार अन्य मतों में फंस चुका था। दयानन्द से पहले कई दृढ़ आत्मा व्रत कर चुके थे। कुमारिल भट्ट ने कई सौ वर्ष पहले एक युवती का आर्तनाद सुन कर प्रण किया था कि वह वेदोद्धारक बनेंगे। स्वामी शंकर ने भी अपना समस्त जीवन वेदों के प्रचार में लगाया। परन्तु वेदों का उद्धार न हुआ। दिन प्रतिदिन इसकी क्षीणता ही होती गई।

अब दयानन्द की बारी थी। उनका हृदय कार्य्य की महत्ता को जानता था। वह समझते थे कि ऐसा व्रत करने में क्या २ कठिनाइयां पड़ेंगी। परन्तु उनका जीवन आग्नेय जीवन था। उनका हृदय विशाल था। वह धृति के आकर थे। उन्होंने खुले हृदय से संकल्प किया। वस्तुतः धर्म प्रचार का व्रत तो बीज रूप से वह उसी समय कर चुके थे जब

घर से निकले। परन्तु अब उनका लक्ष्य अधिक निश्चित हो गया।

गुरु से विदा होकर स्वामी दयानन्द आगरे में आये और वहां दो वर्ष रहे। लक्ष्य निश्चित हो चुका था परन्तु लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग निर्धारित नहीं हुआ था। संभवतः वह सामग्री इकट्ठी कर रहे थे; मन में सोच रहे थे कि किस मार्ग का अवलम्बन किया जाय। सब से अधिक सामग्री जो इस यज्ञ में चाहिये योग साधन है। कहते हैं कि उन्होंने आगरे में रहकर अधिकतर इसी का उपार्जन किया और अठारह अठारह घण्टे तक की समाधि लगाने लगे। यहां वह किसी प्रकार का शास्त्रार्थ या वाद-प्रतिवाद नहीं करते थे। जो पास आ जाता उसके साथ वार्त्तालाप हो जाता था। दो वर्ष के बाद उन्होंने सम्भवतः अपनी शक्ति का परिमाण जानने के लिये देशी रियासतों में भ्रमण किया। पहले ग्वालियर आये और वहां वैष्णव मत का खण्डन करते रहे। इसके पश्चात् करौली और फिर जयपुर चले गये। जयपुर में उन्होंने वैष्णव मतानुयायियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके शैव मत का प्रतिपादन किया। यहां इनको अपने मत के स्थापन करने में इतनी सफलता हुई कि राजा से लेकर रंक तक सभी के गले में रुद्राक्ष की मालायें पड़ गईं। कहते हैं कि घोड़ों और हाथियों तक के गले भी रुद्राक्ष की मालाओं से विभूषित हो गये।

स्वामी दयानन्द के जीवन की सब से अद्भुत घटना यही है। क्योंकि इसकी उनके शेष जीवन-वृत्त से संगति नहीं मिलती। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि जब उनको प्रसिद्ध पूर्वोक्त शिवरात्रि के दिन शैवमत के विषय में शङ्का हो चुकी थी तो फिर इस प्रौढ़ अवस्था में उन्होंने शैवमत का प्रचार क्यों किया। और यदि किया तो उसके पश्चात् क्यों छोड़ दिया। भिन्न २ महानुभावों ने इस सम्बन्ध में भिन्न २ कल्पनायें की हैं। कोई कहते हैं कि शैवमत के पक्ष में जो शास्त्रार्थ किया था वह केवल शैवमत का तारतम्य वैष्णव मत की अपेक्षा से दिखलाने के लिये किया था। वस्तुतः उनकी उस पर श्रद्धा न थी। कोई कहते हैं कि अपनी शक्ति जांचने के लिये ऐसा किया गया था। परन्तु मुझे यह दोनों बातें निर्मूल मालूम होती हैं। पहली बात तो शास्त्रार्थ के वृत्त से ज्ञात नहीं होती। दूसरी बात स्वामी दयानन्द के शुद्ध और निर्मल चरित्र के सर्वथा विपरीत है। वह सत्य के इतने प्रेमी थे कि उन्होंने सत्य के सामने अपने यश या कीर्त्ति की कभी परवाह नहीं की। अपनी भूलों को स्वीकार कर लेना वह धर्म का पहला सिद्धान्त समझते थे। बड़ी २ सभाओं में जब कभी कोई उनकी भूल पकड़ता तो वह उसे बिना आनाकानी के स्वीकार कर लेते थे। बड़े और प्रभावशाली आदमियों में यह बात बहुत कम पाई जाती है। स्वामी दयानन्द ने "सत्यार्थ प्रकाश" में इस बात को अनेक स्थानों पर लिखा है और आर्य्यसमाज

के दश नियमों में से एक नियम यह रख दिया है कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये"। इस विषय में मेरा मत तो यह है कि शिवरात्रि का उद्बोधन केवल बीज मात्र था। उसने विचार सागर में एक कंकड़ी फेंक दी थी। सत्य की खोज के लिये यह एक सूत्रपात था। तब तक उन्होंने यह निश्चय नहीं किया था कि सत्य क्या है। सिद्धान्त विषयक परिपक्वता उनमें नहीं आयी थी। गुरु विरजानन्द के छः या सात साल के सत्संग से उन्होंने केवल सत्य-अन्वेषण की सामग्री इकट्ठी की थी अधिकतर तो व्याकरण पर बल दिया था। उनका विश्वास था कि व्याकरण शास्त्र वैदिक सिद्धान्त की कुंजी है उसको एक बार पूर्णतया ग्रहण कर लेने से अन्य बातें सरल और सुलभ हो जाती हैं। "सत्यार्थ प्रकाश" के तृतीय समुल्लास में भी उन्होंने यही अनुमति दी है। अन्य दर्शनों का अध्ययन केवल गौण रीति से था। गुरू विरजानन्द किसी मत विशेष के पक्षपाती न थे। उनसे रंगाचार्य्य से जो शास्त्रार्थ हुआ था वह केवल व्याकरण विषयक था। उन्होंने रंगाचार्य्य के सिद्धान्तों पर कभी आक्षेप नहीं किया था। जयपुराधीश राजारामसिंह से सभा करने की जो प्रार्थना की थी वह भी पाणिनी तथा भट्टोजी दीक्षित के व्याकरणों के ही सम्बन्ध में थी। इसलिये प्रतीत तो यही होता है कि स्वामी दयानन्द ने मथुरा निवास में अपने मूल सिद्धान्त निश्चित

नहीं किये थे। यह वह अवश्य निश्चय कर चुके थे कि सत्य धर्म की खोज करूँ और उसका प्रचार करूँ। परन्तु दो तीन वर्ष के इस भ्रमण और शास्त्रार्थ आदि ने उनके हृदय में शङ्का उत्पन्न कर दी और अब वह शैव धर्म के भी पक्षपाती नहीं रहे। यहां तक कि अजमेर में उन्होंने शैवमत का भी खण्डन किया। एक वार वही जयपुराधीश जिनके घर जाकर स्वामी दयानन्द ने शैवमत की विजय पताका फहराई स्वामी दयानन्द को वृन्दावन ले जाने के लिये आगरे आये। उनका अभिप्राय था कि रंगाचार्य से उनका शास्त्रार्थ हो और शैवमत का महत्व वृन्दावन में भी स्थापित किया जाय। स्वामी दयानन्द ने उनसे निर्भीकता से कह दिया कि मैं शैवमत का पोषक नहीं हूँ।

इस अनिश्चित अवस्था में स्वामी दयानन्द ने फिर गुरु विरजानन्द की शरण लेनी चाही। जिस गुरु से सत्यकी खोज की सामग्री मिली थी वह अवश्य सत्य की खोज में भी सहायता देगा यह स्वामी दयानन्द का अटल विश्वास था। इसलिये उन्होंने फिर मथुरा आकर अपने को गुरु के चरणों में रख दिया और अपने हृदय की शङ्कायें प्रकट कर दीं। विरजानन्द अपने शिष्य को धर्मारूढ़ देखकर बड़े प्रसन्न हुये। उनको यह जानकर बड़ा आनन्द हुआ कि मेरा शिष्य गुरु दक्षिणा देने के लिये भरसक यत्न कर रहा है। उन्होंने शिष्य की शङ्काओं को निवारण किया। मैं समझता हूँ

कि धर्म के मूल सिद्धान्तों को स्वामी दयानन्द ने इसी समय निश्चित कर लिया था क्योंकि इस समय के पश्चात् फिर वह डाँवा डोल अवस्था नहीं रही। जिस प्रकार विशेषज्ञ चित्रकार चित्र के ऊपर अपनी अन्तिम लेखनी फेर कर उसकी शोभा को कई गुना कर देता है इसी प्रकार गुरु विरजानन्द ने भी अपने अन्तिम उपदेश से स्वामी दयानन्द के हृदयरूपी हिलते हुये शीशे को स्थिर कर दिया। इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द हरिद्वार चले गये। और फिर कभी उनको गुरु-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ परन्तु यह अवश्य आशा है कि गुरु विरजानन्द का अन्तिम जीवन इस सन्तोष और विश्वास के साथ व्यतीत हुआ होगा कि मैंने अपना काम पूरा कर दिया और जो मेरा उद्देश्य था उसको मेरा शिष्य अवश्य पूर्ण करेगा। इससे उत्तम और स्थायी गुरु-दक्षिणा क्या हो सकती है ?

छठा अध्याय

धुरन्धरों से मुटभेड़

गत अध्याय में लिखा जा चुका है कि स्वामी दयानन्द १८६७ ई० में गुरू विरजानन्द को अन्तिम बार प्रणाम करके हरिद्वार आये। उस समय यहां कुम्भ का मेला था और

समस्त भारतवर्ष के प्रसिद्ध सन्यासी तथा विद्वान एकत्रित थे। इस देश में कुम्भ के समान कोई और मेला नहीं होता। लाखों मनुष्य गंगाजल में डुबकी लगाकर मुक्ति प्राप्त करने के लिये आते हैं। स्वामी दयानन्द ने इस अवसर को अपने कार्य्य के लिये विशेष उपयोगी समझा। एक तो विशेष धर्मज्ञों का एकत्रित होना, दूसरे सब के हृदय में मुक्ति की इच्छा। इससे अधिक धर्म निर्धारण का अवसर ही क्या हो सकता था। हरिद्वार पहुंचते ही उन्होंने एक पर्णकुटी में विश्राम किया और उस के बाहर 'पाखण्ड मर्दन' नाम की पताका लगा दी। पताका को देखकर अनेक साधु सन्यासी तथा विद्वान लोग आते और स्वामी दयानन्द उनको शुद्ध वैदिक धर्म का उपदेश करते थे।

परन्तु स्वामी दयानन्द को एक बात देखकर बहुत विस्मय हुआ। क्या साधु, क्या सन्यासी, क्या पंडित, क्या मूर्ख, क्या गृहस्थी, क्या वैरागी सभी को उन्होंने मिथ्या मत मतान्तरों के जाल में फंसा पाया। देखने और कहने को तो वह मुमुक्षु थे परन्तु वस्तुतः उनके हृदय में सांसारिक इच्छायें ही विद्यमान थीं। सत्य की निष्ठा किसी को न थी। असत्य और अनावश्यक प्रथाओं को धर्म समझ रक्खा था। इसलिये धर्म की तलाश भी न थी। सब यही समझते थे कि हम सत्य-पथ पर हैं। जो करते हैं वही ठीक है। यही सनातन धर्म है। इसको छोड़ कर अन्य किसी रीति नीति का

अवलम्बन श्रेय नहीं है। इस बात ने स्वामी दयानन्द के हृदय को इतना उदासीन बना दिया कि उनको धर्म प्रचार सर्वथा असम्भव प्रतीत होने लगा। उन्होंनें समझा कि इस असंख्य जनता को ठीक मार्ग पर लाना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतः उन्होंनें अपनी सब पुस्तकें बांट दी। पास जो सामग्री थी वह भी त्याग दी और योग साधन में निमग्न हो गये। संसार को सुधारने की अभिलाषा पूरित न होते देखकर उन्होंने समझा कि और नहीं तो कम से कम अपनी ही उन्नति में दत्त-चित्त होना चाहिये।

यदि कहीं स्वामी दयानन्द की यह कल्पना स्थायी हो जाती तो आज संसार ही कुछ और होता और जो काम स्वामी दयानन्द के संसार में आने से हुआ वह कुछ न हो सकता। स्वामी दयानन्द से पूर्व अनेकों उच्च कोटि के साधु संसार से विरक्त हो कर योग द्वारा अपनी आत्मोन्नति कर गये, परन्तु उन से किसी अन्य को लाभ न हुआ। दीपक तो जले परन्तु अपने ही को प्रकाश देने के लिये। घर में तो ज्यों का त्यों अन्धेरा ही रहा। अज्ञान-तम दूर न हुआ। ईश्वर दर्शन हुआ तो उनको। मुक्ति हुई तो उनकी, आत्मोन्नति हुई तो उनकी। दूसरों को उन से क्या लाभ। संसार के लिये तो उनका होना न होना बराबर था। परन्तु स्वामी दयानन्द को तो परम प्रभु जगत् नियन्ता ने इसीलिये नहीं भेजा था, उनका तो कार्य्य ही और था।

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय दुष्कृतां।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

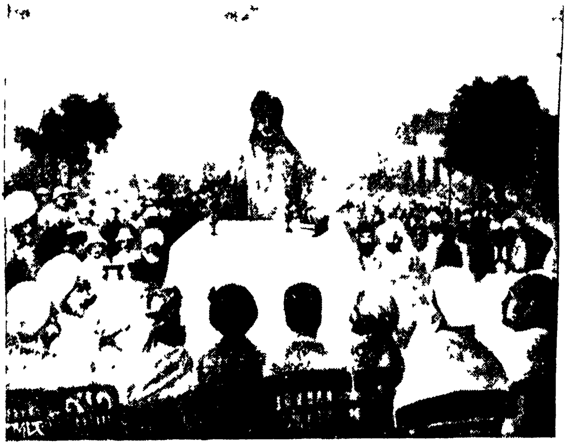
ही उच्च आत्माओं का उद्देश्य होता है। वह आत्मोन्नति के लिये नहीं किन्तु संसारोन्नति के लिये आते हैं। उनका आशय स्वयं मुक्ति पाना नहीं किन्तु दुःखमय जगत को दुःख से मुक्त करना होता है। वह उस रत्न के समान नहीं होते जो कीचड़ में पड़ा पड़ा चमकता रहे किन्तु उनकी तुलना उस स्वच्छ जल से की जा सकती है जो कीचड़ को भी शुद्ध और निर्मल कर देता है।

स्वामी दयानन्द का आत्मा ऐसा ही आत्मा था। एक बार निराशा की राख उनके उत्साह रूपी अग्नि पर आ अवश्य चुकी थी परन्तु वह चिरस्थायी न थी। एक दिन जब वह अपने ध्यान में निमग्न थे किसी व्यक्ति ने उनके निकट आकर भागवत की प्रशंसा और वेदों का अपमान करना आरम्भ किया। स्वामी दयानन्द को यह बात सह्य न हुई। उन्होंने उस आत्मा को ऐसा पाप करते देख कर उसको उससे बचाने का प्रयत्न किया और साथ ही दृढ़ संकल्प भी कर लिया कि चाहे धर्म प्रचार के मार्ग में कितने ही कष्ट क्यों न हों पीछे पग हटाना उचित नहीं है।

हरिद्वार से स्वामी दयानन्द गंगा के किनारे किनारे पूर्व की ओर बढ़े। पहले *कम्पिल में कुछ दिनों निवास किया

* कम्पिल फरुख़ाबाद से १५ कोस पश्चिम की ओर गंगा तट पर है।

और लोगों को गायत्री जाप की महिमा का उपदेश करते रहे। फिर वहां से फ़रुख़ाबाद चले आये। फ़रुख़ाबाद से उस घोर धर्म युद्ध का आरम्भ होता है जो स्वामी दयानन्द को वैदिक धर्म प्रचार के लिये विशेष कर उन्हीं लोगों से करना पड़ा जो अपने को वैदिक धर्म का ही अनुयायी बताते थे। जिस प्रकार शरीर के बाहर रक्खा हुआ विष शरीर को हानि नहीं पहुंचा सकता परन्तु शरीर में प्रविष्ट होकर वही विष मृत्यु का कारण हो जाता है इसी प्रकार आर्य्य जाति को उतना अन्य जातियों ने आघात नहीं पहुंचाया जितना आर्य्य जाति में प्रविष्ट हुई बाधाओं ने पहुंचाया है। पेट में पहुंचकर विष कठिनता से ही दूर होता है। इसी प्रकार वेदानुयायियों के भीतर आई हुई बुराइयों के परिशोधन में स्वामी दयानन्द को बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ीं। जिन धुरन्धरों से सहायता की आशा हो सकती थी उन्होंने विरोध किया, जो वेद रक्षक बने हुये थे उन्होंने वैदिक धर्म की मूल पर कुल्हाड़ा चलाया। जो अपने को आर्य्यजाति के शिरोमणि कहते थे उन्होंने वैदिक सभ्यता के वृक्ष को मठ्ठे से सींचने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया था। स्वामी दयानन्द को भीतर और बाहर, दायें और बायें, सभी ओर से घोर संग्राम करना पड़ा। अधर्म को स्थित रखने और धर्म को न जमने देने में सब से अधिक हाथ स्वार्थ का था। संस्कृत के विद्वान पण्डित समझते थे कि वर्त्तमान अवस्था में ही उनकी स्वार्थ सिद्धि है।



बरेली की उस बड़ी सभा में जहाँ अनेक देशीय और विदेशीय पुरुष उपस्थित थे ऋषि ने व्याख्यान के मध्य में कहा—"लोग कहते हैं 'सत्य को प्रकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा' अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।"

उनके अनुयायी मूर्खता के कारण आंखें मीच कर उनके पीछे चलते थे। इस प्रकार स्वार्थ और अज्ञान दोनों मिल-कर धर्म के विरुद्ध कटिबद्ध हो रहे थे और स्वार्थ विशेष कर अज्ञान की सहायता करता था।

फ़रुख़ाबाद आते ही स्वामी दयानन्द ने खुले शब्दों में एक ईश्वर की उपासना का मण्डन और मूर्त्ति पूजा का खण्डन आरम्भ कर दिया। इससे पूर्व उन्होंने मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध इतनी ज़ोरदार आवाज़ नहीं उठाई थी। मूर्त्तिपूजा हिन्दू पुजारियों की एक मात्र जीविका थी। यह वह मर्म स्थान था जिस पर आघात पहुंचते ही समस्त शरीर कम्पायमान हो सकता था। हिन्दू-जाति को अपने ऊपर अनेक प्रकार के आघात सह्य थे। किरोड़ों हिन्दू ईसाई और मुसलमान हो चुके थे और पण्डित मण्डल के कान पर जूं तक न रेंगी थीं। लाखों विधवाओं का आर्त-नाद भारतवर्ष की भूमि को कंपा रहा था। किसी विद्वान को तरस न आता था। सती सीता को आदर्श मानने वाली लाखों आर्य्य अबलायें वैश्या बन कर निर्लज्जता का जीवन व्यतीत कर रहीं थीं परन्तु किसी माई के लाल को इसकी परवाह न थी। वेद के पुस्तक भारतवर्ष के बड़े २ नगरों में भी दुष्प्राप्य हो गये थे परन्तु किसी को यह आवश्यकता प्रतीत नहोती थी कि अपनी वर्त्तमान स्थिति में परिवर्त्तन करे। परन्तु एक सन्यासी का मूर्ति पूजा के विरुद्ध उठ खड़ा होना हिन्दू

जाति को सह्य न था। पुजारी और उनके अनुयायी एक स्वर से चिल्ला उठे कि यह क्या हुआ। वस्तुतः धर्म के सभी अङ्ग लुप्त हो गये थे केवल मूर्त्तिपूजा थी जो प्रत्येक की स्थानापन्न बनी हुई थी। संध्या के स्थान में मूर्त्तिपूजा, संस्कारों के स्थान में मूर्त्तिपूजा, हवन के स्थान में मूर्त्तिपूजा, रोगों के निराकरण के लिये औषधि और वैद्य के स्थान में मूर्त्तिपूजा, शत्रु को रण-क्षेत्र से भगाने के लिये सेना और शस्त्र के स्थान में मूर्त्तिपूजा। ऐसी व्यापक और व्याप्त मूर्त्तिपूजा पर आघात पहुंचते ही मृत्यु-प्राय हिन्दू-जाति का भी चौंक कर उठ पड़ना कोई आश्चर्यजनक बात न थी।

फ़र्रुख़ाबाद में मूर्त्तिपूजा पर आक्रमण देखकर लोग स्वामी दयानन्द के बहुत विरोधी हो गये थे। कई ने तो उनको अपमानित करने या मार डालने तक का प्रयत्न किया। फ़र्रुख़ाबाद के पण्डितों को इस से पहले ही जागना चाहिये था। स्वामी दयानन्द तो मूर्तिपूजा को हटा कर सत्य सनातन एक ईश्वर की पूजा और वैदिक धर्म का प्रचार करते थे। परन्तु उन से बीसियों वर्ष पहले से फ़र्रुख़ाबाद के ही निकट ईसाइयों का बड़ा भारी मिशन स्थापित हो चुका था जिसको फ़तहगढ़ मिशन कहते थे। इस मिशन ने सहस्रों हिन्दुओं को जनेऊ और चोटी से वंचित कर दिया था परन्तु पण्डितवर्ग को यह व्यावहारिक बुद्धि न थी कि उस मत का निराकरण करने का प्रयत्न करते। जब स्वामी दयानन्द के घोर परिश्रम और

प्रभावशाली व्याख्यानों ने बहुत से फ़रुख़ाबाद निवासियों को आकर्षित किया और कई सज्जनों ने अपने घर की मूर्त्तियां उठा कर गंगा में बहा दीं, तो लोगों में बड़ी खलबली मची। परन्तु सौभाग्य का स्थान है कि अत्याचारियों का कोई उपाय सफल न हुआ। ज्योतिर्मय दयानन्द के सन्मुख आते ही लोग डर जाते थे। फ़रुख़ाबाद के कुछ धनी वैश्यों ने धन व्यय कर के मूर्त्तिपूजा की रक्षा करनी चाही। उन्होंने काशी को आदमी भेजे जो धन देकर वहां के पण्डितों से मूर्त्तिपूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आयें। उन बिचारों को क्या मालूम था कि स्वामी दयानन्द की अटूट्य और न्याय संगत युक्तियां धन के द्वारा खण्डित नहीं हो सकतीं। काशी की व्यवस्था को देखकर ही स्वामी दयानन्द को ज्ञात हो गया था कि लक्ष्मी ने सरस्वती पर विजय पाली है और सरस्वती के उपासक लक्ष्मी पा-प्रतिष्ठा के लिये अपनी उपास्यादेवी का तिरस्कार करने में नहीं चूकते। रुपये की झनकार शास्त्रों के वचनों को उलथ पलथ कर देने के लिये पर्य्याप्त है। उस समय स्वामी दयानन्द ने काशी के पाण्डित्य की भी जांच करली थी और उनका दृढ़ सङ्कल्प हो गया था कि काशी चलकर मूर्त्तिपूजा के गढ़ पर आक्रमण करना वैदिक धर्म प्रचार के लिये अत्यावश्यक है।

स्वामी दयानन्द को यह भी विश्वास हो गया था कि पण्डित मण्डल में अनार्ष ग्रन्थों के लिये मान और आर्ष ग्रन्थों की ओर उपेक्षा है। धर्म की अवनति का मुख्य कारण यही

था। इसके निराकरण के लिये उन्होंने वैदिक पाठशाला की नींव डाली जहां पाणिनि मुनि का व्याकरण और अन्य आर्ष ग्रन्थ पढ़ाये जाने लगे। स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की पाठशालायें छलेसर, कासगंज और मिर्ज़ापुर आदि स्थानों में भी खोली थीं परन्तु कुछ दिन के पश्चात् उचित अध्यापकों का प्रबन्ध न होने के कारण इनको बन्द करना पड़ा क्योंकि जो अध्यापक मिलते थे वह अनार्ष ग्रन्थों के पढ़े हुये ही मिलते थे और वह छात्रों को अपने मिश्रित विचारों का ही पाठ पढ़ाते थे जिससे लाभ के स्थान में हानि की अधिक सम्भावना थी।

स्वामी दयानन्द फ़रुखाबाद से रामगढ़ आये। वहां भी उनके प्राणों पर आक्रमण हुआ परन्तु कोई दुष्परिणाम न निकला। फिर वह फ़रुखाबाद चले गये और केवल पाठशाला के प्रबन्ध में ही दत्तचित्त रहे। इसके पश्चात् कानपुर होते हुये प्रयाग आये।

प्रयाग के पश्चात् काशी की बारी आई। हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि काशी मूर्त्तिपूजा का गढ़ है। कई अंशों में तो काशी हिन्दू सभ्यता का केन्द्र समझा जाता है। स्वामी दयानन्द काशी में १८६९ ई० में आये थे। गत दो वर्ष के प्रचार तथा भ्रमण से स्वामी दयानन्द ने अनुभव कर लिया था कि समस्त भारतवासी काशी का मान करते हैं। एक समय वस्तुतः काशी वैदिक विद्या का केन्द्र था। संस्कृत भाषा का प्रचार तो काशी में अब भी संसार भर से अधिक है। यद्यपि

बहुतों की दृष्टि में संस्कृत मृत भाषा समझी जाती है तथापि काशी की गलियों में अब भी पण्डित वर्ग संस्कृत में इसी प्रकार बात चीत करते हैं मानों वह उनकी मातृभाषा है। भेद केवल इतना है कि पहले काशी में सरस्वती की उपासना होती थी। उसके उपासक अपने उपास्य देव की भक्ति का संसार भर में प्रचार करते थे। विद्यारूपी प्रकाश की किरणें काशी रूपी सूर्य्य से निकल कर समस्त संसार के कोने कोने को प्रकाशित करती थीं। परन्तु आज काशी सरस्वती का जेल खाना है। यहां विद्या देवी क़ैद पड़ी हुई है। पण्डित लोग उसके जेलर बने हुये हैं। उनका यही काम है कि वह अन्यों को संस्कृताध्ययन से वंचित रक्खे। यह शूद्र है अतएव वेद का अनाधिकारी है; यह स्त्री है अतः वेद नहीं पढ़ सकती; अमुक ब्राह्मण नहीं इसलिये इसको पढ़ाने से पाप होता है; अमुक नीच ब्राह्मण है इस लिये इसको सरस्वती-उपासना का अधिकार नहीं दिया जा सकता; ऐसी ऐसी अनेक बातें काशी में प्रचलित हैं। यही कारण है कि संस्कृत विद्या का प्रचार समस्त जगत से सकुड़ते सकुड़ते केवल काशी या अन्य दो चार स्थानों तक ही परिमित रह गया है। तब भी काशी का मान हिन्दूजाति की दृष्टि में बहुत है। काशी का पढ़ा हुआ होना ही पण्डित होने की कसौटी है। जो मनुष्य झूठ मूठ भी कह देता है कि मैं काशी का पढ़ा हुआ हूँ उसके आगे लोगों के शिर झुक जाते हैं।

यही कारण था कि स्वामी दयानन्द ने काशी में आकर पण्डितों को समझाने का प्रयत्न किया। और दुर्गाकुण्ड के समीप आनन्द बाग़ में ठहरे।

"दयानन्द के आगमन पर काशी में आन्दोलन मच गया। एक कोपीनधारी सन्यासी ऋग्वेदादि ग्रन्थों की आलोचना करके मूर्त्तिपूजा का मिथ्यात्व प्रतिपादित करता हैं, शाक्त शैवादि सम्प्रदायों की असारता प्रतिपादन करते हैं, माला-ग्रहण और त्रिपुण्ड धारणादि बाह्य अनुष्ठान समूह को वेदविरुद्ध प्रतिपादन करने के निमित्त बद्धपरिकर हुए हैं; और इसी प्रकार और इसी भाव से अपने मत का प्रचार करते २ गङ्गातीरवर्त्ती स्थानों में भ्रमण करते हुए अब वाराणसी नगर में आकर वैदिक धर्म की विजयपताका उत्तेजित की है—यह बात काशी में सर्वत्र ही शीघ्रता के साथ फैल गई। यह संवाद सुनकर काशी के निवासियों में किन्हीं ने विस्मय प्रकाशित किया, कोई विचलित हो गये, शास्त्रिगण चिन्ता करने लगे, धर्म व्यवसायी पण्डे पुरोहितगण नाना प्रकार से अशान्ति और आशङ्काओं की कथायें उत्थापित करने लगे, और कोई कोई व्यक्ति उपेक्षा के साथ उपहास करके बातों में उड़ाने की चेष्टा करने लगे। फलतः इस बात से काशी के मन्दिरों में, सन्तों और साधुओं के निवासों में आन्दोलन मच गया। पदस्थ लोगों की बैठकों और विश्राम क्षेत्रों में इस सम्बन्ध में नाना प्रकार की आलोचना होने लगी।

सारांश यह कि उपस्थित विषय पर वहां के प्रायः सब ही लोगों के हृदय में एक कौतूहल की शिखा उद्दीपित हो गई। 'मूर्त्ति-उपासना सचमुच वेदानुमोदित है वा नहीं, सौर-शक्ति प्रभृति साम्प्रदायिक मत वास्तव में वेद विरोधी हैं वा नहीं यह जानने के लिये अनेक लोग इच्छुक हुये। यहां तक कि कोई २ अनुसन्धित्सु पण्डित वेद ग्रन्थ लेकर विचार करने बैठ गये। अन्त में यह संवाद काशी नरेश के भी कर्णगोचर हुआ।"

"दयानन्द ने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिये विज्ञापन प्रचारित किया, मूर्त्तिपूजा के खण्डन के विषय में काशीस्थ पण्डित मण्डली के साथ विचारार्थ हुए; अधिक क्या उन्होंने स्वयं ही पण्डितों को विचार के लिये आहूत किया। ऐसी दशा में कुछ न बोलकर चुप हो रहना काशी वासियों के लिये किसी अंश में भी विधेय नहीं था। विशेषतः काशी धाम एक पवित्र धाम करके प्रसिद्ध है। काशी की पवित्रता अथवा काशी की मान महिमा सब ही विश्वनाथादि देव मूर्त्तियों के ऊपर निर्भर है। यदि दयानन्द सरस्वती वाराणसी की छाती पर बैठकर देवमूर्त्ति समूह को मिथ्या प्रमाणित करें, तो एक ओर जैसे देवगण असम्मानित होंगे, वैसे ही दूसरी ओर काशी भी माहात्म्यहीन हो जायगी। ऐसी अवस्था में कुछ न करके निश्चेष्टता का अवलम्बन करना किसी प्रकार भी कर्त्तव्य नहीं था। और भी एक बात थी। काशी के सम्मान से काशी नरेश सम्मानित हैं। काशी के असम्मान से काशी

नरेश असम्मानित हैं। इसलिये काशी की सम्मान रक्षा काशी नरेश को भी आवश्यक हुई। इस सब विषय को धीर भाव से चिन्तन करके काशीराज ने पण्डित मण्डली से परामर्श किया और उस के अनुसार काशीस्थ पण्डित वर्ग को निमंत्रित करके उपस्थित विषय में कर्त्तव्य निर्धारण के निमित्त उनके साथ अलोचना करने लगे। अन्त को दयानन्द सरस्वती के साथ शास्त्रविचार करना ही सब की सम्मति में विहित है यह स्थिर हुआ।" (पृ० १६६)

१७ वीं नवम्बर १८६९ अर्थात् कार्तिक सुदि १२ सम्वत् १९२६ मङ्गलवार को दोपहर के तीन बजे शास्त्रार्थ का समय नियत हुआ। महाराज काशी नरेश ने सभापति का पद ग्रहण किया। पं० ताराचरण तर्करत्न, स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री तथा अनेक पण्डित वर्ग अपने अनुयायियों सहित आनन्द बाग में उपस्थित हुये। शास्त्रार्थ जिस प्रकार से हुआ, उसका वर्णन करना यहां संभव नहीं है। केवल यही कह सकते हैं कि काशी की विद्वन्मण्डली और काशी-वालों की सभ्यता पर यह एक अमिट धब्बा है।



गुरुकुल काङ्गड़ी। [देखो पृष्ठ १३४]



दयानन्द-एंग्लो-वैदिक कालिज, लाहौर। [देखो पृष्ठ १३२]

सातवाँ अध्याय

आर्य्य समाज की स्थापना

शास्त्रार्थ समाप्त हो गया। काशी के पंडितों ने विज्ञापन द्वारा सूचना दी कि स्वामी दयानन्द पराजित हो गये। इसी उद्देश्य के लिये "दयानन्द पराभूति" और "दुर्जन मत मर्दन" नामक पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। परन्तु विचारशील पुरुषों को शान्ति न हुई। जो लोग शास्त्रार्थ में इसलिये आये थे कि स्वामी दयानन्द की आवाज़ को येन केन प्रकारेण बन्द करदें उन्होंने तो यह समझा कि भारतवर्ष में इस बात की घोषणा होते ही कि काशी में स्वामी दयानन्द पराजित हो गये फिर मूर्तिपूजा का प्रवाह यथापूर्व बह निकलेगा। परन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष थे जिनका मुख्य प्रयोजन सचाई की खोज थी। ऐसे पुरुषों को बड़ी निराशा हुई। उनको विश्वास हो गया कि काशी की समस्त पंडित-मंडली स्वामी दयानन्द के आक्षेपों का उत्तर नहीं दे सकी और इसलिये कोलाहल करके उठ खड़ी हुई। पायनियर, (The Pioneer) हिन्दू पैट्रियट (The Hindu Patriot) क्रिश्चियन इंटेलीजेन्सर (The Christian Intelligencer) आदि अंगरेज़ी पत्रों ने स्वामी दयानन्द की बड़ी प्रशंसा की। शास्त्रार्थ के दूसरे दिन श्रीयुत चन्द्रशेखर सेन बेरिष्टर से स्वामी दयानन्द ने स्वयं कहा कि मैं परास्त नहीं

हुआ। उनके एक फ़रुख़ाबादी भक्त रईस पन्नालाल इसी बात का अनुसंधान करने के लिये काशी आये थे कि स्वामी दयानन्द परास्त हुये या नहीं। उनको भी स्थानिक अन्वेषण से यही विदित हुआ कि स्वामी दयानन्द पराजित नहीं हुये। शास्त्रार्थ ने स्वामी दयानन्द को भी विश्वास करा दिया कि मूर्तिपूजा के प्रसिद्ध गढ़ काशी में भी धुरन्धर पंडितों के पास मूर्तिपूजा के पक्ष में कोलाहल से भिन्न कोई युक्ति उपस्थित नहीं है।

स्वामी दयानन्द काशी में चार मास के लगभग रहे। उनकी इच्छा थी कि यहाँ एक वैदिक पाठशाला खोलूँ। इसके पश्चात् वह प्रयाग चले गये। उस समय प्रयाग में कुम्भ का मेला था (जनवरी १८७० में)। और स्वामीजी के लिये प्रचार का बहुत अच्छा अवसर था। लाखों मनुष्य उनके उपदेशों को सुनते थे और मूर्तिपूजा-खण्डन पर आश्चर्य करते थे। इससे पूर्व लोगों ने सिवाय विधर्मियों के किसी वैदिक धर्मी के मुख से ऐसी बात न सुनी थी। कुम्भ प्रचार के पश्चात् मिर्ज़ापुर आदि होते हुये स्वामी दयानन्द मई १८७० में फिर बनारस पहुँचे और पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये बुलाया। परन्तु काशी के पण्डित स्वामी दयानन्द के गम्भीर पाण्डित्य तथा अपने खोखलेपन को पहले ही जान चुके थे। अब की बार लोग भी अधिक चतुर होगये थे। यदि फिर शास्त्रार्थ होता तो अवश्य गोलमाल और कोलाहल का

पूर्ववत् अवसर न मिलता और बातचीत अधिक ढंग की होती। काशी के पण्डित अपनी स्थिति को भली प्रकार समझते थे इसलिये उन्होंने चुप ही साधना अच्छा समझा जिससे उनके अन्ध विश्वासी अनुयायियों ही में कुछ न कुछ गौरव बना रहे। परन्तु यह गौरव कुछ वास्तविक गौरव न था। स्वामी दयानन्द को जब अवकाश मिलता तो काशी में आ कूदते और विज्ञापन पर विज्ञापन देते कि यदि इतने दिनों की खोज के पश्चात् भी मूर्त्तिपूजा के पक्ष में कोई वैदिक प्रमाण मिल गया हो तो सामने रक्खो। परन्तु अब कौन आता था। आरम्भ से लेकर अन्त तक स्वामी दयानन्द ने सात बार मूर्त्तिपूजा के गढ़ काशी पर आक्रमण किया और उसकी जड़ों तक को ऐसा हिला दिया कि पण्डित मंडल के कुछ बनाये न बनी।

इसी बीच में कासगंज, छलेसर, मिर्ज़ापुर आदि में वैदिक पाठशालाएं खोली गईं और अधिक समय इन्हीं के प्रबन्ध में व्यतीत हुआ। परन्तु १८७२ ई० में बङ्गाल की बारी आई। स्वामी दयानन्द की इच्छा थी कि भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता नगर के बङ्गवासी पण्डितों के सम्मुख भी सत्य का संदेश उपस्थित करना चाहिये। इसलिये वह पटना मुंगेर आदि होते हुये दिसम्बर १८७२ में कलकत्ते पहुँचे।

कलकत्ते में उस समय ब्रह्म समाज का बहुत प्रचार था, श्री महर्षि देवेन्द्रनाथ जी ठक्कुर तथा बाबू केशवचन्द्र सेन ब्रह्म-

समाज के नेताओं में थे। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि ब्रह्म समाजी लोग मूर्त्तिपूजा के विरोधी थे। इनमें स्वतंत्रता अधिक थी और किसी २ में तो यह स्वतंत्रता उच्छृङ्खलता की सीमा को पहुँच गई थी। स्वामी दयानन्द जहाँ पौराणिकों की मिथ्या गोलमाल के विरुद्ध थे वहाँ वैदिक धर्म से हटना नहीं चाहते थे। ब्रह्म समाज के लोग वैदिक धर्म पर विश्वास नहीं रखते थे। स्वामी दयानन्द और ब्रह्म समाज के नेताओं में एक विचित्र भेद और था। स्वामी दयानन्द के स्वतंत्र विचार भी वेदों से स्वतंत्र न थे। वह ईश्वर की आज्ञा को सर्वोपरि समझते थे और वेद को ईश्वर आज्ञा जानते थे। यदि उन्होंने मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया तो इसलिये कि वेदों तथा प्राचीन ऋषियों के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। परन्तु ब्रह्मसमाज पर पाश्चात्य साहित्य का अधिक प्रभाव था। उनको वस्तुतः ईसाई मत के प्रभाव ने ही मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध किया था। वह ईसाई न थे परन्तु ईसाइयत से प्रभावित अवश्य थे। स्वामी दयानन्द को अपने कई सिद्धान्तों की पुष्टि करते देखकर ब्रह्म समाजियों ने उनका बहुत सत्कार किया। प्रत्येक बड़े बड़े स्थान पर व्याख्यान हुये सभी बड़े आदमियों से भेंट हुई। बाबू केशवचन्द्र सेन से अधिक प्रेम हो गया। परन्तु स्वामी दयानन्द न तो सहसा इन लोगों के मन्तव्यों को बदल सके और न स्वयं अपने विचारों में परिवर्त्तन कर सके। कलकत्ते में

स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थ भी हुये जिनसे उनकी धाक जम गई। स्वयं केशव बाबू से भी अनेक विषयों पर वार्त्तालाप हुआ। "आवागमन" विषय पर उनके साथ शास्त्रार्थ भी हुआ (जिसका हाल कहीं छपा नहीं मिलता) परन्तु स्वामी दयानन्द को बङ्गाल की उर्वरा भूमि भी अपने काम के लिये मरुभूमि से अधिक प्रतीत न हुई। स्वामी दयानन्द कलकत्ते में लगभग तीन मास रहे और बङ्गालियों की प्रकृति का भली भांति निरीक्षण किया। परन्तु अधिक रहना अनुपयोगी समझकर १ ली अप्रेल १८७३ को हुगली चले आये। और १५ दिन वहाँ रह कर पश्चिम की ओर प्रस्थान कर दिया। केशव बाबू के सत्संग से स्वामी दयानन्द ने अपने प्रचार में एक परिवर्त्तन कर दिया जिस से देश और जाति को विशेष लाभ हुआ। स्वामी दयानन्द कलकत्ते जाने तक केवल संस्कृत ही बोलते थे। उनके व्याख्यान भी संस्कृत में ही होते थे। यद्यपि संस्कृत अत्यन्त सरल और मनोहारिणी होती थी और प्रायः सुशिक्षित जनता उससे स्वामी दयानन्द का आशय समझ ही लेती थी तथापि सर्वसाधारण उससे इतना लाभ नहीं उठा सकते थे जितना होना चाहिये था। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द का संस्कृत भाषा पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त था। लोग उनकी मधुर वाणी को सुन कर मुग्ध हो जाते थे। भले भले संस्कृतज्ञ और पाण्डित्य पूर्ण विचक्षण उनकी संस्कृत का लोहा मान गये थे।

काशी के व्याकरणाभिमानी पंडितों को उन्होंने व्याकरण में भी पराभूत कर दिया था। कलकत्ते में कई विद्वान उनकी सरल संस्कृत को सुनकर आश्चर्य करते थे। तो भी एक और दृष्टि से देखा जाय तो स्वामी दयानन्द के केवल संस्कृत बोलने से एक बहुत बड़ी हानि थी। स्वामी दयानन्द का उद्देश्य अपने पाण्डित्य को प्रकाशित करना न था किन्तु अपने वैदिक धर्म सम्बन्धी संदेशों को मनुष्य मात्र तक पहुँचा देना उनका एकमात्र कर्त्तव्य था। जिस भाषा का वह प्रयोग करते थे वह सर्वसाधारण की भाषा न थी। अतः समझने में कभी २ भेद हो जाता था। एक दो बार तो ऐसा भी हुआ कि किसी संस्कृतज्ञ से स्वामी जी के व्याख्यानों का उलथा करने के लिये कहा गया तो उसने जनता को कुछ का कुछ समझाने की कोशिश की जिससे स्वामी दयानन्द को खेद हुआ। केशव बाबू ने प्रार्थना की कि आप आर्य्य भाषा का प्रयोग किया करें क्योंकि केवल संस्कृत बोलने से जनता में भ्रम फैलता है। स्वामी दयानन्द सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिये सदा उद्यत रहते थे। उन्होंने झट इस लाभदायक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। और कलकत्ते से ही भाषा बोलने लगे।

आज स्वामी दयानन्द को कलकत्ते छोड़े ५० वर्ष हो चुके। इस समय में स्वामी दयानन्द के उद्देश्यों का प्रचार चारों ओर फल चुका है परन्तु इसके सब से कम चिह्न

बङ्गाल में ही दृष्ट पड़ते हैं। यद्यपि कलकत्ते में बड़ा विशाल आर्य्यसमाज मन्दिर और बड़ा महत्वपूर्ण समाज उपस्थित है तथापि असली बङ्गवासियों में आर्य्य समाज के प्रचार का सर्वथा अभाव है। इसका मुख्य कारण एक है। बङ्गवासी स्वभाव से ही देश और जाति के प्रेमी हैं। उनमें इस प्रेम की मात्रा सीमा से बाहर चली गई है। उनके आन्तरिक जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि वह एक बङ्गाली की कही हुई बात को अन्य की अपेक्षा शीघ्र ही मान लेते हैं। वह बंगाली से इतर अन्य पुरुष को गुरु बनाने या मानने के लिये सहसा तैय्यार नहीं होते। यही कारण है कि वहाँ ब्रह्म समाज का अधिक प्रचार रहा। यदि स्वामी दयानन्द बंगवासी होते तो अवश्य ही अब तक बंगाल के कोने २ में आर्य्यसमाज की घोषणा पहुँच चुकी होती। बंगवासियों का यह प्रान्तिक प्रेम जहाँ अनेक बातों में उनके लिये उपयोगी है वहाँ उसने वैदिक धर्म के दूर रखने में भी उनकी सहायता की है। यह एक ऐसी क्षति है जो उनके अन्य लाभों पर पानी फेर देती है। बङ्गालियों में प्रचार कम होने के दो और भी कारण हैं। वहाँ अंगरेज़ी का प्रभाव बहुत दिनों से चला आता है। इसके साथ ही वहाँ के लोग जादू, टोना, भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों में बहुत फँसे हुये हैं। बङ्गाले का जादू तो पाश्चात्य प्रान्तों में एक प्रसिद्ध बात है। इसलिये बङ्गवासियों में दो विचित्र भेद हो गये हैं एक तो वह कक्षा है जो पूर्ण-

रीत्या पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो चुकी है उसने धर्म कर्म आदि से सर्वथा मुख मोड़ रक्खा है। इस कक्षा की स्वतंत्रता की कोई मर्य्यादा ही नहीं रही। खान पान रहन सहन सभी बातों में यूरोप का अनुकरण होता है। बङ्गालियों में ऐसे हिन्दू मिलते हैं जिनको गो मांस से भी घृणा नहीं है। परन्तु इनके साथ ही वहाँ एक पुरानी कट्टर कक्षा के लोग भी हैं जो अपने मार्ग से एक इंच हटने के लिये तैय्यार नहीं हैं। वह जो करते आये हैं अथवा जो मानते आये हैं उसी को करते और मानते हैं। चाहे सत्य हो चाहे असत्य, यही कारण है कि बङ्गालियों ने स्वामी दयानन्द के मिशन का सत्कार करते हुये भी उसकी पूर्त्ति की ओर पग नहीं बढ़ाया। संभवतः स्वामी दयानन्द ने इन सब बातों का अनुभव किया होगा। कदाचित् इसीलिये स्वामी दयानन्द अपने शेष जीवन में फिर उस ओर न गये।

१५ अप्रेल सन् १८७३ से अक्टूबर सन् १८७४ तक लगभग डेढ़ वर्ष स्वामी दयानन्द केवल बिहार और पश्चिमोत्तर देश (जिसे अब संयुक्तप्रांत कहते हैं) में ही रहे। अधिक समय प्रचार, शास्त्रार्थ तथा वैदिक पाठशालाओं के प्रबन्ध में ही व्यतीत हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने दक्षिण की ओर आँख उठाई। और जबलपुर होते हुये २६ अक्टूबर सन् १८७४ को बम्बई पहुँचे।

बम्बई में वल्लभाचार्य्य और नारायण मत का बहुत

प्रचार था। स्वामी दयानन्द ने बम्बई पहुँचते ही एक विज्ञापन निकाला जिसकी चार भाषाओं में सहस्रों प्रतियाँ छपवा कर बम्बई के कोने कोने और गली गली में बाँट दी गई। बम्बई निवासी स्वामी दयानन्द को भिन्न २ दृष्टि से देखने लगे। नित्यप्रति व्याख्यान होते, जो आता उससे शास्त्रार्थ करते और शंका समाधान करके लोगों की शंकायें निवारण किया करते थे। परन्तु सब से बड़ा और प्रभावशाली कार्य्य आर्य्य समाज की स्थापना थी जिसने वैदिक धर्म प्रचार की जड़ों को पाताल तक पहुँचा दिया।

स्वामी दयानन्द ने इससे पहले वैदिक पाठशालाओं को प्रचार का साधन समझा था। वह समझते थे कि इन पाठशालाओं से जो लड़के निकलेंगे वह वैदिक धर्म पर आरूढ़ होंगे और वही मेरे संदेस को मेरे पीछे लोगों में फैलायेंगे। परन्तु इसमें उनको कृतकार्य्यता प्राप्त न हुई। वैदिक पाठशालाओं में अध्यापक वही होते थे जिन्होंने पौराणिक प्रभाव में शिक्षा प्राप्त की थी। स्वामी दयानन्द के दो चार व्याख्यान सुनकर उनके पुराने संस्कार बिल्कुल निकल नहीं गये थे। फिर स्वामी जी के शिर पर देश भर में फिरने, शास्त्रार्थ करने और विरोधियों को उत्तर देने का भी भार था, अतः वह पाठशालाओं का स्वयं प्रबंध नहीं कर सकते थे। व्यय के लिये चन्दा एकत्रित करना पड़ता था जो एक साधारण बात न थी। इन सब कठिनाइयों के अतिरिक्त सब से बड़ी

निराशा-युक्त और खेदजनक बात यह थी कि बालकों की शिक्षा उसी पौराणिक रीति से होती थी जिसको जड़ से हटाना स्वामी दयानन्द के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। अतः स्वामी दयानन्द इस चिन्ता में थे कि किसी ऐसी संस्था की नींव डालनी चाहिये जो उत्तम रूप से वेद प्रचार का कार्य्य कर सके।

स्वामी दयानन्द को उस समय दो संस्थायें सुधार का कार्य्य करती हुई दिखाई दीं। एक का नाम ब्रह्म समाज है जो बङ्गाल में कार्य्य कर रहा था। लगभग उसी प्रकार का कार्य्य बम्बई प्रान्त का प्रार्थनासमाज कर रहा था। इन दोनों के मुख्य उद्देश्य यह थे कि हिन्दू जाति (वास्तविक आर्य्य जाति) में जो दोष आगये थे उनका निवारण किया जाय। ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय महोदय मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध थे। इसी प्रकार प्रार्थनासमाज के संस्थापकों को वल्लभाचार्य्य आदि के मतों से घृणा हो गई थी। वह इन मतों को जाति के लिये मृत्यु का कारण समझने लग गये थे। इन दोनों समाजों के नेताओं ने स्वामी दयानन्द का स्वागत किया था क्योंकि वह समझते थे कि स्वामी दयानन्द भी उसी प्रकार का कार्य्य कर रहे हैं। वस्तुतः कई अंशों में तो स्वामी दयानन्द के कार्य्य और इन दोनों समाजों के कार्य्य में सादृश्य था। अर्थात् सुधार की इच्छा समान रीति से प्रबल थी। परन्तु भेद भी बहुत था। यह तो सभी मानते थे कि आर्य्य

जाति रोग युक्त है। परन्तु रोग के निदान और औषध में बड़ा मत भेद था। स्वामी दयानन्द ने बहुत यत्न किया कि बंगाल के बाबू केशवचन्द्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ जी आदि पर वेदों का महत्व प्रकट करें परन्तु वहाँ निराशा हुई। जब बम्बई में आये और वहाँ से अहमदाबाद गये तो प्रार्थनासमाज के नेताओं राउबहादुर भोलानाथ साराभाई तथा राउसाहब महीपतिराम रूपराम से सुधार विषय में बहुत वार्त्तालाप हुआ। स्वामी दयानन्द के हृदय में यह बात जमी हुई थी कि आर्य्य जाति के अधोपतन का मुख्य कारण वेद मार्ग से विचलित होना है। अतः जब तक आर्य्य जाति फिर वेदों का अवलम्बन न करेगी उस समय तक सुधार होना ही असम्भव है। परन्तु ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज वेदों को वह गौरव देने के लिये उद्यत न थे। बम्बई में ही स्वामी दयानन्द ने यह निश्चित कर लिया था कि एक संस्था खोलनी चाहिये। इसलिये अहमदाबाद पहुँच कर स्वामीजी ने साराभाई और रूपराम महोदयों से प्रस्ताव किया कि प्रार्थनासमाज का नाम बदल कर आर्य्यसमाज रख दिया जाय। उचित भी ऐसा ही था। आर्य्य समाज बड़ा सारगर्भित नाम है। प्रार्थना समाज मनुष्य कर्त्तव्य के केवल एक ही अंग की ओर संकेत करता था। मनुष्य का कर्त्तव्य प्रार्थना अवश्य है परन्तु केवल प्रार्थना ही कर्त्तव्य नहीं है। ईश्वर भक्ति के भी स्तुति, प्रार्थना और उपासना तीन अङ्ग हैं। और मनुष्य का कर्त्तव्य

ईश्वर-भक्ति से आरम्भ होकर मनुष्य मात्र की सेवा करना भी है। सत्य सनातन धर्म के अनुकूल आर्य्य आदर्श मनुष्य का ही नाम है अतः आर्य्यसमाज शब्द जितना गौरव-शाली है उतना दूसरा शब्द नहीं है इसीलिये ऋषि दयानन्द ने आर्य्यसमाज नाम का प्रस्ताव किया था। साराभाई महोदय ने स्वामी जी के इस प्रस्ताव को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा किन्तु कहते हैं कि एक दिन रात भर इसी विषय पर सोचते रहे। वेदों को वह भी आदर की दृष्टि से देखते थे परन्तु साथ ही निर्भ्रान्त ईश्वर-ज्ञान मानने के लिये वह तैय्यार न थे। स्वामी दयानन्द उनको बार बार वेदों के अपौरुषेय होने की ओर संकेत करते थे। अन्त को साराभाई महोदय स्वामी दयानन्द के प्रस्ताव को स्वीकृत न कर सके और प्रार्थना समाज जिस गति से बह रहा था उसी गति से बहता रहा।

अब स्वामी दयानन्द को निश्चय हो गया कि न तो वर्त्त-मान संस्थाओं से उनका काम चल सकता है न उन संस्थाओं के मठाधिकारी अपने निर्दिष्ट पक्ष में परिवर्त्तन करने के लिये उद्यत हैं अतः यदि कुछ करना है तो किसी के आश्रय से काम न चलेगा। अतः उन्होंने बम्बई आते ही आर्य्यसमाज की स्थापना कर दी। इस प्रकार बम्बई में पहले आर्य्यसमाज की १८७५ ई० में स्थापना हुई। इसके पश्चात् भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों में आर्य्यसमाज खुल गये। पंजाब में लाहौर आर्य्यसमाज ने विशेष साहस और उत्साह दिख-

लाया और वहाँ के सभासद् अति शीघ्र ही अन्य समाजों के पथ-प्रदर्शक हो गये।

अब स्वामी दयानन्द ने अपना समय समाजों को सुदृढ़ करने और उनके संचालन के लिये वैदिक साहित्य तैय्यार करने में लगाया। अब तक लोग केवल उनके व्याख्यान सुन कर ही आर्य्यसमाज में सम्मिलित हो जाते थे और उनकी अनुपस्थिति में लोगों को ठीक ठीक बातों की व्यवस्था करने में कष्ट होता था। लोग पत्रों द्वारा पूछा करते थे कि अमुक बात वैदिक है या अवैदिक क्योंकि कोई पुस्तक न थी। परन्तु अब स्वामी जी ने निश्चय कर लिया कि ग्रन्थों का निर्माण किया जाय। स्वामी जी के ग्रन्थों की सूची यहाँ दी जाती है:—

(१) सत्यार्थप्रकाश—जिसमें वैदिक सिद्धान्तों पर १६ व्याख्यान हैं। यह बहुत बड़ा पुस्तक है।

(२) संस्कार विधि—जिसमें मनुष्य के जीवन के १६ संस्कारों का विधान है।

(३) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—इसमें वेद विषयक बहुत सी बातों की मीमांसा है।

(४) यजुर्वेद भाष्य।

(५) ऋग्वेद भाष्य जो सातवें मण्डल तक ही हो पाया था।

(६) आर्य्याभिविनय—इसमें १०० प्रार्थना मंत्र अर्थ सहित हैं।

(७) पंच महायज्ञविधि—जिसमें संध्या, हवन, बलि-वैश्वदेव, पितृयज्ञ और अतिथि यज्ञ दैनिक कृत्यों की विधि है।

(८) व्यवहार भानु एक छोटी सी पुस्तिका साधारण सदाचार के ऊपर है।

(९) गोकरुणाविधि—एक छोटी सी पुस्तिका पशु रक्षा और गो-रक्षा के विषय में है।

(१०) वेदान्त प्रकाश अर्थात् संस्कृत व्याकरण का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिस में पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी का विषय-क्रम से भाष्य है।

इसके अतिरिक्त कई छोटी छोटी पुस्तकें अन्य मतों की समीक्षा में हैं। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने हिन्दी भाषा में वर्त्तमान लोगों के लाभ के लिये वैदिक धर्म का एक बहुत बड़ा कोष छोड़ा है जिससे हम वैदिक सिद्धान्तों को समझ कर उन पर चलने का उद्योग कर सकते हैं।

ऋषि दयानन्द का देहान्त कार्तिकीय अमावस्या १९४० (दीपावलि) अर्थात् ३० अक्टूबर १८८३ ई० मंगलवार को अजमेर नगर में हुआ। एक मास पूर्व वह जोधपुर में प्रचारार्थ गये थे। वहां उन्होंने जोधपुर नरेश के आचार व्यवहार की कड़ी आलोचना की थी। महाराज ने ऋषि के उपदेश से अपने दुष्कर्म पर पश्चाताप किया। इससे नन्हीं जान नामक एक वेश्या क्रुद्ध हो गई। और उसने षड्यंत्र द्वारा ऋषि के



मुनिवर पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी एम. ए. ।

रसोइये से भोजन में विष मिलवा दिया। यद्यपि विष बहुत कठोर था तो भी स्वामी दयानन्द अपूर्व ब्रह्मचर्य्य के बल से एक मास से अधिक जीवित रहे। यद्यपि उनको अतीसार लग गये थे और अनेक प्रकार के कष्ट थे तब भी वह उनका सहन भीषण रूप से करते थे। जोधपुर से आबू और आबू से अजमेर इलाज के लिये आये परन्तु कुछ औषध काम न कर सकी। और ऋषि दयानन्द ने १९४० की दीपावलि के दिन ६ बजे सायंकाल वेद मंत्र पढ़ते हुये नश्वर शरीर को त्याग दिया।

श्री पं० गुरुदत्त जी पंजाब निवासी मृत्यु के समय वहाँ उपस्थित थे। उनको ईश्वर-अस्तित्व में अनेक शंकायें थीं परन्तु ऋषि की मृत्यु के दृश्य और ऋषि के अटल ईश्वर-प्रेम ने पं० जी को नास्तिक से आस्तिक बना दिया और उन्होंने अपनी शेष आयु ऋषि का ऋण चुकाने में ही व्यय कर दी। ऋषि वैदिक प्रचार का काम आर्य्य समाजियों के सुपिर्द कर गये हैं। यह हम पर उनका ऋण है। ईश्वर इसके चुकाने में हमारी सहायता करें।

दूसरा भाग

आर्य्यसमाज के सिद्धान्त

पहला अध्याय

ईश्वर, जीव, प्रकृति

जब मनुष्य आँख खोलकर देखता है तो सब से पहला प्रश्न उसके मन में यह उठता है कि मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कहां जाऊंगा? यह संसार क्या है? किसने बनाया है? इत्यादि। धर्म या मज़हब के सिद्धान्त वस्तुतः इन्हीं प्रश्नों के उत्तर होते हैं। किसी धर्म की सत्यता की कसौटी इन्हीं प्रश्नों के उत्तर हैं। यदि उत्तर युक्ति-युक्त हैं तो वह धर्म भी सब के माननीय हैं। यदि ऊटपटांग हैं, यदि प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं है तो उस धर्म के मनुष्य-हितकारी होने में बड़ा सन्देह है। आजकल जितने बड़े २ मज़हब या धर्म प्रसिद्ध हैं अर्थात् ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, वैदिक आदि वह इन प्रश्नों के भिन्न २ उत्तर देते हैं। इसी कारण उनमें भेद है। वस्तुतः धार्मिक आचार अनाचार का निर्भर भी इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पर है। ''मनुष्य को क्या करना

चाहिये ?" इसका ठीक २ उत्तर दिया ही नहीं जा सकता जब तक यह निश्चित न हो जाय कि मैं क्या हूं ? और मेरा इस संसार में कौन सा स्थान है। कुछ लोग कहते हैं कि "मैं क्या हूं?" इस प्रश्न के झमेले में न पड़कर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। मनुष्य को इतना समय नहीं है कि "मैं क्या हूं" की खोज में समय व्यर्थ खोता रहे। परन्तु ऐसा कहने वाले यह नहीं समझते कि जब तक मनुष्य को अपने अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता वह अपने कर्त्तव्य का भी पालन नहीं कर सकता। जो राजा यह नहीं जानता कि "मैं राजा हूं" वह क्या राज करेगा ? जो गुरु यह नहीं जानता कि "मैं गुरु हूं" वह क्या पढ़ावेगा ? जो माता यह नहीं जानती कि "मैं माता हूं" वह सन्तान का क्या पालन करेगी। इसी प्रकार जो यह नहीं जानता कि "मैं क्या हूं" वह अपने कर्त्तव्यों को भी नहीं पहचान सकता, इसलिये धर्म का पहला लक्षण यह है कि वह "मनुष्य क्या है और उसका संसार की अन्य वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है?" इस प्रश्न का यथोचित उत्तर दे।

हम संसार में दो प्रकार के अस्तित्व देखते हैं। एक जड़ और दूसरा चेतन। जड़ वह है जो स्वयं कुछ नहीं कर सकता। चेतन वह है जो जड़ को चलाता है। गाड़ी घोड़े के द्वारा चलती है। गाड़ी में गति तो है परन्तु घोड़े की दी हुई है। वह स्वयं नहीं चल सकती, घोड़ा अपनी इच्छा और

ज्ञान के अनुकूल गाड़ी को चलाता है। इसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुयें जड़ और चेतन दो विभागों में विभक्त हो सकती हैं। बहुत से लोगों ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि संसार में दो वस्तुयें नहीं किन्तु एक ही है अर्थात् या तो केवल जड़ या केवल चेतन। इस प्रकार इनके दो दल हैं एक केवल चेतनवादी जो जड़ के अस्तित्व का निषेध करते हैं। दूसरे केवल जड़वादी जो चेतन का अस्तित्व नहीं मानते। चेतनवादी कहते हैं कि संसार में जिसको जड़ कहा जाता है वह भी चेतन का ही रूपान्तर है। परन्तु उन्होंने अबतक इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया कि एक चेतन के रूपान्तर क्यों हो जाते हैं। 'एक' से कई कैसे उत्पन्न हो गये और क्यों उत्पन्न हो गये? यह बड़ी टेढ़ी समस्या है। आजकल वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त यह माना जाता है कि 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। वस्तुतः वेद या वेदान्त का यह सिद्धान्त नहीं है। श्री शंकर स्वामी आदि आचार्यों ने ही इसका प्रचार किया है। परन्तु इन्होंने संसार की उत्पत्ति का यथोचित उत्तर नहीं दिया।

श्री शङ्कराचार्य जी महाराज के शारीरिक भाष्य आदि मुख्य ग्रन्थों के देखने से प्रतीत होता है कि उन्होंने सांख्यों, नैय्यायिकों और बौद्धों तथा जैनों के खण्डन में ही अधिक परिश्रम किया है और अनेक स्थलों पर जो आक्षेप उन्होंने

अपने विरोधियों पर लगाये हैं वह उन पर भी लग सकते हैं। इन वेदान्तियों की जिन को प्राचीन वैदिक धर्म से भेद करने के लिये लोग नवीन वेदान्ती भी कहा करते हैं कई शाखाय हैं। परन्तु उन सब का मूल मंत्र यह है:—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अर्थात् (१) ब्रह्म सत्य है (२) जगत् मिथ्या है (३) जीव ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं, साधारण दृष्टि से तो यह मालूम होता है कि इस सिद्धान्त ने एक चेतन से समस्त जगत् बनने के प्रश्न का समाधान कर दिया। परन्तु नवीन वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़ने से पता चलता है कि ब्रह्म, जगत, मिथ्या और सत्य के अर्थों में बहुत उलझने हैं। भिन्न २ लोगों ने इनके भिन्न २ अर्थ लिये हैं। प्रायः लोग समझते हैं कि वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या मानते हैं अर्थात् उनके मत में संसार भ्रम है। है नहीं परन्तु दिखाई देता है। जैसे स्वप्न में वस्तु होती नहीं पर दिखाई देती है उसी प्रकार संसार की वस्तुएं हैं नहीं पर प्रतीत होती हैं। जैसे रस्सी को लोग सांप समझते हैं या सीप को चांदी, इसी प्रकार एक सत्य ब्रह्म ही झूठ मूठ जगत के रूप में प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त को विवर्त्त-वाद कहते हैं। वेदान्त सार में लिखा है।

अतात्त्विको ऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः।

अर्थात् बिना तत्व के एक वस्तु अन्य को अन्य प्रतीत हो तो वह विवर्त है। स्वामी शंकराचार्य संसार को इस प्रकार विवर्त्त मानते थे या नहीं; इसमें बड़ा सन्देह है। उन्होंने वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय पाठ २ के २६ वें सूत्र,

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।

की व्याख्या करते हुये स्पष्ट लिखा है कि जगत् स्वप्न नहीं है। क्योंकि इस में स्वप्न में देखी हुई चीजों के समान धर्म नहीं पाये जाते। स्वप्न के लिये पहले जागरित अवस्था का अनुभव चाहिये। जो हम जागते समय देखते हैं उसी की स्मृति स्वप्न में भी होती है। वह लिखते हैं।

स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्।

स्वप्न में स्मृति ही होती है। लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में लिखा है कि।

"एक ही निर्गुण ब्रह्म पर मनुष्य की इन्द्रियां अज्ञान से सगुण दृश्यों का अध्यारोप किया करती हैं। इसी मत को 'विवर्त्तवाद' कहते हैं" (पृ० २४०)।

यही नहीं कि श्री शंकराचार्य्य स्वामी के ऊपर लिखे सूत्र के भाष्य से इस वाद की संगति नहीं मिलती। अपितु अनेकों कठिनाइयां हैं जिनको विवर्त्तवाद नहीं सुलभा सका। सीप में चांदी या रस्सी में सांप देखने वाला कोई दूसरा होता है। यदि ब्रह्म के सिवाय और

कोई है ही नहीं तो यह ब्रह्म स्वयं अपने को विवर्त्त रूप में क्यों देखता है इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। जब अन्य वस्तु नहीं तो अन्यथा भाव ही कहाँ से आया। यदि जीव को ब्रह्म से अलग कोई चीज माना जाता तो यह कह सकते थे कि अल्पज्ञ या अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण शुद्ध सत्य ब्रह्म को जगत् के रूप में देखता है जिस प्रकार अन्धेरे के कारण प्रायः लोगों को रस्सी सांप मालूम होती है। परन्तु जब जीव और ब्रह्म में भेद नहीं, जब जीव ब्रह्म ही है तो यह शुद्ध ब्रह्म अपने को ही अन्यरूप में क्यों देखता हैं ?

यदि विवर्त्तवाद को हटा दें तो एक बात कही जा सकती है। ' जगत् मिथ्या ' का यह अथ नहीं कि ". जगत् है ही नहीं पर दीखता है," किन्तु मिथ्या शब्द का अर्थ है ' बदलने वाला ' अर्थात संसार नित्य बदलता रहता है। इस में सन्देह नहीं कि वैदिक साहित्य में ' असत्य ' शब्द इस अर्थ में भी आता है। परन्तु केवल इतने ही से सन्तुष्टि नहीं होती। प्रश्न तो यह है कि अखण्ड एक रस ब्रह्म से यह परिणामी संसार कैसे बनता है।

यस्तात्त्विको ऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।

अर्थात् यदि किसी एक वस्तु से सचमुच ही दूसरी चीज बन जाय जैसे दूध से दही बनता है तो उसे 'परिणाम' कहेंगे। परिणामवादी कहेंगे कि ब्रह्म से ही जगत् बन

गया। परन्तु यह बात तो नवीन वेदान्तियों तथा नैय्यायिकों सभी को अभिमत है कि जो गुण कारण में नहीं वह कार्य्य में नहीं आसकता। वैशेषिक दर्शन में लिखा है,

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः।

जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य्य में आ सकते हैं। शंकर स्वामी भी वेदान्त अ० २ पा० १, सूत्र १४,

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः

का भाष्य करते हुये यही मानते हैं। तो फिर शुद्ध चेतन ब्रह्म से जड़ वस्तुयें कैसे बनेंगी। जिस खाट पर मैं बैठा हूं वह सर्वथा जड़ और ज्ञान शून्य है। क्या वह किसी अवस्था में भी एक चेतन ब्रह्म का परिणाम हो सकती है।

नवीन वेदान्तियों ने इसका एक और समाधान किया है। वह आरम्भ में विवर्त्त और तत्पश्चात् परिणाम मानते हैं। लोकमान्य तिलक के शब्दों में ही इसको रखना अधिक उपयुक्त होगा। वह लिखते हैं।

"विवर्त्तवाद का मुख्य उद्देश इतना ही दिखला देना है कि **एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के अनेक दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को दिख पड़ना सम्भव है।** यह उद्देश सफल हो जाने पर अर्थात् जहां विवर्त्तवाद से यह सिद्ध हुआ कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृति के दृश्य का दिख पड़ना शक्य है वहीं वेन्दात

शास्त्र को यह स्वीकार करने में कोई भी हानि नहीं कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुण परिणाम से हुआ है। अद्वैत वेदान्त का मुख्य कथन यही है कि स्वयं मूल प्रकृति एक दृश्य है–सत्य नहीं है। जहाँ प्रकृति का दृश्य एक बार दिखाई देने लगा, वहाँ फिर इन दृश्यों से आगे चल कर निकलने वाले दूसरे दृश्यों को स्वतंत्र न मानकर अद्वैत वेदान्त को यह मान लेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है कि एक दृश्य के गुणों से दूसरे दृश्य के गुण और दूसरे से तीसरे आदि के इस प्रकार नाना-गुणात्मक दृश्य उत्पन्न होते हैं" (गीता रहस्य पृ० २४२)

परन्तु हम को इस सिद्धान्त पर दो बड़े आक्षेप हैं। प्रथम तो जैसा कि हम 'केवल विवर्त्तवाद' के विषय में कह चुके हैं ब्रह्म को विवर्त्त होने का ठीक समाधान नहीं है। अद्वैत वेदान्तियों की 'माया' उनकी कोई सहायता नहीं करती। यदि माया नित्य है तो 'अद्वैत' का खण्डन हुआ। यदि अनित्य है तो नित्य ब्रह्म से यह निकली कैसे। दूसरे पहले विवर्त्त और फिर परिणाम किसी युक्ति से भी सिद्ध नहीं होता। यह तो माना जा सकता है कि पहले परिणाम हो फिर विवर्त्त। अर्थात् जब दूध से दही बन गया तो सम्भव है कि दही को मैं कोई और चीज़ समझने लगूं। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि यदि चूने के पानी को मैं भ्रम या विवर्त्त से दूध समझने लगूं तो फिर दूध से दही बनना



[धर्मवीर आर्य्यपथिक प० लेखराम]

"खेल कपट इस्लाम ने हरली जिसकी जान है।
लेखराम से वीर का हुआ सत्य बलिदान है ॥"

(विभु)

आरम्भ हो जाय। 'विवर्त्त' रूपी नींव पर 'परिणाम' की दीवार बनाना ऐसा ही है जैसा मकड़ी के जाले पर पहाड़ खड़ा कर देना। पहाड़ पर मकड़ी के जाले भी देखे जा सकते हैं परन्तु मकड़ी के जालों पर पहाड़ खड़ा नहीं हो सकता।

मुसलमान और ईसाई मतों की इससे भी भिन्न विचित्र स्थिति है। वह भी एक ईश्वर से ही संसार की उत्पत्ति मानते हैं परन्तु न तो विवर्त्त से और न परिणाम से। वह कहते हैं कि सर्वशक्ति मान ईश्वर 'शून्य' से ही सब संसार रच देता है। 'नेस्ती' से 'हस्ती' या 'शून्य' से ही वस्तुओं का बन जाना सर्वथा ही युक्ति शून्य है और एक दृष्टान्त भी इस की पुष्टि में नहीं मिलता। वेदान्त दर्शन अ० २ पा० २ का २७ वां सूत्र,

उदासीनानामपि चैवं सिद्धि

इस मत का भली प्रकार खण्डन करता है। क्योंकि यदि शून्य से ही वस्तु बन जावें तो आलसियों को सभी वस्तुयें मिल जाया करें क्योंकि 'शून्य' तो आलसियों के भी पास है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता यह नहीं है कि 'नेस्ती' से 'हस्ती' करे, और न ईश्वर आज कल करता है। संसार में सभी चीज़ें अपने कारणों से बनती हुई देखी जाती हैं। 'शून्य से संसार बनने का मत तो इतना 'लचर' है कि इस पर अधिक कहने की ही आवश्यकता नहीं। कोई दार्शनिक या वैज्ञानिक इस को मानने के लिये तैय्यार न होगा।

इस प्रकार केवल चेतन-वाद उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ है। यह कोई नहीं कह सकता कि संसार में बहुत्व नहीं केवल एकत्व ही है। वस्तुतः एक से अधिक वस्तुयें हैं। चाहें उनका अस्तित्व तात्विक हो चाहे कल्पित। यदि कल्पित है तो एक में 'बहुत्व' की कल्पना का क्या कारण है यह समझ में नहीं आता।

केवल जड़वादी कहते हैं कि जिस प्रकार दही और गोबर मिलाने से बिच्छू बन जाते हैं इसी प्रकार एक जड़ से ही भिन्न २ चेतन बन जाते हैं। यद्यपि दही और गोबर से सब दशाओं में बिच्छू बन ही जायँ यह ठीक नहीं। तथापि ज्ञान के अभाव से ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है इस का जड़वादियों के पास कोई उत्तर नहीं है।

नासतोविद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः

गीता का यह कथन कि अभाव से भाव और भाव से अभाव नहीं होता सायंस के सभी विद्वानों को माननीय है। यदि चेतनता है ही नहीं तो कहां से आ जाती है ?

बहुत से दार्शनिक (फिलासफ़र) कहते हैं कि दर्शन शास्त्र अथवा फ़िलासफ़ी का कर्त्तव्य ही यह है कि इस बहुत्व-मय संसार में 'एकत्व' की खोज करे। इसलिये उन लोगों का निरन्तर प्रयत्न यह रहता है कि वह उस एकतत्व की खोज करें जिससे संसार उत्पन्न होता है चाहे वह जड़ हो चाहे चेतन। परन्तु मेरी सम्मति में दार्शनिकों ने अपना व्यर्थ

ही यह कर्त्तव्य समझ रक्खा है। दार्शनिकों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह अवश्य ही 'एकत्व' से संसार की उत्पत्ति का व्याख्यान करने का प्रयत्न करें। दार्शनिकों का मुख्य कर्त्तव्य उन मूल तत्वों की खोज है जिनसे संसार बनता है चाहे वह एक तत्व हो चाहे एक से अधिक। यदि संसार में कई तत्व हैं तो उनको एक तत्व में दर्शाने की कोशिश करना सर्वथा व्यर्थ है। न तो अद्वैत से द्वैत उत्पन्न हो सकता था और न द्वैत को अद्वैत में परिवर्त्तन किया जा सकता है।

संसार में हम जड़ और चेतन दो प्रकार की वस्तुयें देखते हैं। परन्तु चेतन में भी भेद है। मैं क़लम से लिख रहा हूं। मेरी लड़की मेरी मेज़ से कुछ दूर पर रोटी पका रही है। यह दोनों चेतन सत्तायें हैं। एक 'मैं' और दूसरी 'मेरी लड़की'। मेरी क़लम जड़ है जिसे मैं चला रहा हूं। रोटी या आटा भी जड़ है जिस से मेरी लड़की भोजन बना रही है। यहाँ क़लम, स्याही, काग़ज़ जड़ हैं और मेरी चेतन सत्ता द्वारा चलायमान हो रहे हैं। वहां आटा, चूल्हा, चकला जड़ हैं और मेरी लड़की की चेतन सत्ता द्वारा चल रहे हैं। न क़लम में अपनी गति है। न आटे में। परन्तु मेरी और मेरी लड़की की सत्तायें दो हैं। एक नहीं। यह दोनों चेतन हैं। ज्ञानवान हैं। परन्तु मेरे ज्ञान का मेरी लड़की को पता नहीं और लड़की के ज्ञान का मुझ को पता नहीं। इसलिये हम दोनों अलग २ सत्तायें हैं। इसी प्रकार पाठशाला में गुरु पढ़ा रहा है, शिष्य पढ़ रहे हैं। एक

अपना ज्ञान दूसरों को दे रहा है। इसलिये वह सब गुरु और शिष्य भिन्न २ चेतन सत्तायें हैं एक नहीं। यदि एक सत्ता होती तो पढ़ाना असम्भव था और न पढ़ाने की ज़रूरत ही थी। इस प्रकार संसार में असंख्यों चेतन सत्तायें मिलती हैं। इन्हीं का नाम "जीव" है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग यह सब चेतन सत्तायें हैं। जो अपने जड़ शरीरों को चलायमान करती हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि यह शरीर ही जीव है। शरीर से इतर और कोई भिन्न जीव नहीं। चारवाक आदि नास्तिकों का यही मत था। परन्तु यह ठीक नहीं। हम यहाँ कुछ युक्तियाँ देते हैं।

(१) यदि चेतनता शरीर से इतर वस्तु नहीं तो यह उन तत्वों में होगी जिन से शरीर बनता है। परन्तु तत्वों में चेतनता नहीं है। यदि भिन्न २ तत्व में भिन्न २ चेतनतायें हैं तो उन भिन्न २ चेतनताओं से मिल कर हमारी जैसी चेतनता नहीं उत्पन्न हो सकती।

(२) यदि पृथ्वी आदि तत्वों के संयोग से चेतनता होती तो घड़े में भी चेतनता होती क्योंकि घड़ा भी तो हमारे शरीर के समान इन्हीं तत्वों से बना है।

(३) यदि पृथ्वी आदि तत्वों का गुण चेतनता होती तो जब तक पृथ्वी है तब तक चेतनता भी रहती, जैसे आग में गर्मी सदा रहती है। परन्तु हम देखते हैं कि मृत्यु के पश्चात्

चेतनता नहीं रहती यद्यपि शरीर अपने सभी तत्वों सहित विद्यमान रहता है। कभी कभी जीवन काल में भी मूर्छा आ जाती है। इस से सिद्ध है कि शरीर से जीव भिन्न है।

(४) अगर शरीर से इतर जीव की सत्ता न होती तो युवा अवस्था की बात वृद्धावस्था में याद न रहती। क्योंकि शरीर तो सर्वथा बदल जाता है। जो शरीर युवावस्था में था वह वृद्धावस्था में नहीं रहता।

(५) यदि कहो कि शरीर के अवयव बदल जाते हैं परन्तु पहले अवयवों का पिछले अवयवों से संसर्ग होता रहता है इसलिये युवावस्था की बात वृद्धावस्था में याद रहती है, तो यह युक्ति भी ठीक नहीं। यदि ऐसा होता तो लड़के को बाप के अनुभवों का ज्ञान होता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध है कि जीवात्मा शरीर से इतर एक वस्तु है।

(६) मनोविज्ञान (Psychology) से पता चलता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आत्मा को अपने शरीर से भिन्न समझता है। जब मैं कहता हूं कि "यह मेरा शरीर है," 'यह मेरा हाथ है' "यह मेरा पेट है" तो इससे उसका तात्पर्य्य होता है कि शरीर और शरीर के अवयव आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं। दूसरी बात यह है कि 'मैं' का ज्ञान मनुष्य को यह नहीं बताता कि "मैं" कई चीजों के संयोग का नाम है। वस्तुतः 'मैं' का भाव ऐसी वस्तु का भाव है जो एक है

ओर जिसके टुकड़े नहीं हो सकते, यह भाव निरन्तर रहता है। यदि मैं इस "अहङ्कार" के भाव पर विचार करता हूं तो पता चलता है कि मुझे कभी ऐसी अवस्था का भाव नहीं आता जब मैं न था या जब मैं न रहूँगा। इस प्रकार 'आत्मा' के चेतन, निरवयव, अभौतिक, और अनादि तथा अनन्त होने में आत्मा स्वयं एक आन्तरिक साक्षी है।

(७) इन्द्रियाँ भी चेतन नहीं हैं किन्तु चेतन का साधन मात्र हैं। यही कारण है कि आंख से नीबू देखकर जीभ को पुराने खाये हुये नीबू के स्वाद की याद आ जाती है।

इन सब युक्तियों से पता चलता है कि संसार में असंख्यों जीव हैं जो भौतिक शरीर के द्वारा कार्य करते हैं। शरीर और जीव के सम्बन्ध को वैदिक शास्त्रों में भिन्न २ प्रकार से कथन किया गया है। उपनिषत् कहती है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवच।

(कठोपनिषद)

अर्थात् शरीर रथ है और जीव आत्मा उसका सवार है जिस प्रकार यात्रा के लिये रथ की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीवनयात्रा के लिये शरीररूपी रथ की आवश्यकता होती है।

गीता में कहा है:—

वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवानि गृह्णाति

नरोपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही (गीता: अ० २ ॥ २२)

अर्थात् शरीर वस्त्र के समान है और जीव पहनने वाले के समान है। जैसे पहनने वाला पुराने कपड़ों को उतार कर नये पहनता है उसी प्रकार जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे को ग्रहण कर लेता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जीव आत्मा निरवयव और अभौतिक है। इसके टुकड़े २ नहीं हो सकते। यह किसी वस्तु के संयोग से नहीं बना। जो किसी के संयोग से न बने वह नित्य होता है। वह अजर है, अमर है। इसीलिये गीता में कहा है।

नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।

(अ० २ ॥ २३)

अर्थात् जीवात्मा को तलवार काट नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता!

इसी सिद्धान्त का वर्णन करते हुये यजुर्वेद में लिखा है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

(अ० ४० । १०)

जीवात्मा (वायु) अर्थात् चेतन है (अनिलम्) इला अर्थात् पृथिवी आदि भूतों से बना नहीं है। (अमृतम्) और

नित्य है। और इसके विपरीत शरीर भस्म हो जाने वाला है।

अब तक हमने असंख्यों जीव और उनके भौतिक पदार्थों से बने हुये शरीरों का वर्णन किया। परन्तु जीवों को अपने से भिन्न और प्रबल एक और चेतन का कार्य दृष्टिगोचर होता है। जिस समय एक मनुष्य मरता है तो उसका जीव शरीर से निकलना नहीं चाहता। परन्तु उसे निकलना पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि वह कौनसी सत्ता है जो आत्मा को शरीर से खींच कर बाहर निकाल रही है। शरीर स्वयं तो आत्मा को निकालने के योग्य है नहीं। प्रथम तो यह जड़ है। दूसरे जब शरीर पुष्ट था उस समय आत्मा उसके ऊपर आधिपत्य रखता था। जब पुष्ट शरीर का ही आत्मा पर कोई बस नहीं था तो दुर्बल और रोग-ग्रसित शरीर पर आत्मा का प्रभुत्व क्यों न होता। इससे पता चलता है कि शरीर आत्मा को अपने में से निकालने में असमर्थ है और आत्मा स्वयं निकलना नहीं चाहता, अतः प्रतीत होता है कि शरीर और जीवों से भिन्न एक तीसरी सत्ता है जो बलवान से बलवान आत्मा को उसके शरीर से बलात्कार बाहर निकाल देती है। ठीक उसी प्रकार जैसे एक राज कर्म्मचारी किसी मनुष्य को उसके मकान से बाहर निकाल देता है।

इसी तीसरी सत्ता का नाम ईश्वर है। मौत के समय इन तीनों का अस्तित्व यथार्थ रूप से समझ में आ जाता

है। अर्थात् एक शरीर जो भौतिक अवयवों से मिलकर बना है और जड़ है, दूसरा जीव जो उस शरीर से निकाला जा रहा है और तीसरा ब्रह्म या ईश्वर जो जीवात्मा को शरीर से ज़बरदस्ती निकाल रहा है। मृत्यु की इस घटना से यह भी स्पष्ट होता है कि यह तीसरी सत्ता अर्थात् ब्रह्म, सभी जीवों के ऊपर, प्रबल और अनन्त सत्ता है क्योंकि इसका आधिपत्य न केवल जीवों पर ही है परन्तु अधिकृतर शरीरों पर भी है। जीवों ने शरीरों को अपनी क्रिया का साधन अवश्य बनाया, वह उससे अपना काम लेते रहे। परन्तु न तो शरीरों को जीवों ने बनाया, न बिगाड़ा। यदि जीव शरीर के बनानेवाले होते तो प्रत्येक जीव अपने शरीर के अवयवों से अभिज्ञ होता। घड़ीसाज़ घड़ी को बनाता है तो उसको घड़ी के प्रत्येक पुरज़े का ज्ञान है। परन्तु मुझे अपने शरीर के किसी पुरज़े का ज्ञान नहीं। डाक्टरों ने भी बड़ी खोज के साथ इनका कुछ पता पाया है और विशेष कर शरीर को काट कर। शरीर के सहस्रों अवयव ऐसे हैं जो विचारे डाक्टरों की अब भी समझ में नहीं आते। इससे मालूम होता है कि शरीरों का बनानेवाला शरीरों को प्रयोग में लानेवालों से बहुत प्रबल, ज्ञानी और नियन्ता है। बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमारा शरीर हमारे माता-पिता का बनाया हुआ है। परन्तु जिस प्रकार हमको अपने शरीर की बनावट का ज्ञान नहीं उसी प्रकार हमारे माता-पिता

को भी नहीं। वह भी शरीर के निर्माण के साधनमात्र हैं। शरीर न स्वयं बनते हैं और न जीव उनको बनाता है। उनके बनाने वाला तो एक तीसरी ही सत्ता है जिसे ब्रह्म कहते हैं। शरीरों को हम चलाते अवश्य हैं परन्तु उन की सब गतियाँ हमारे हाथ में नहीं हैं। हम हाथों से आखों का और नाक से कानों का काम नहीं ले सकते। शरीर के बहुत से अवयव हैं जिनको हिलाना हमारी सामर्थ्य के बाहर हैं। यदि कोई अवयव टूट जाता है तो हम जोड़ नहीं सकते। यदि जोड़ भी सकते हैं तो परिमित रूप से। शरीर की बनावट, हड्डियों का जोड़, रुधिर की नालियाँ, भोजन के पचाने के औज़ार, हृदय, फेंफड़ा आदि सभी ऐसे विचारपूर्ण और महत्व के हैं कि उनसे उनके बनाने वाले प्रभु की सत्ता का पूर्ण प्रमाण मिल जाता है।

जिस प्रकार शरीर के निर्माण पर हमारा आधिपत्य नहीं उसी प्रकार शरीर से भी विशाल सूर्य्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु-मण्डल आदि का संचालन भी जीवों से नहीं होता। इन का रचयिता भी ईश्वर ही है। जिस प्रकार हमारे शरीर में आंख, कान, नाक, आदि स्वयं नहीं बन जाते इसी प्रकार वृक्ष, पहाड़, नदी तारे आदि भी स्वयं नहीं बन सकते। प्रायः बहुत से लोग कह दिया करते हैं कि इन को कदरत (nature) बनाती हैं। परन्तु इन्होंने कभी कुदरत के अर्थों पर विचार नहीं किया। वस्तुतः संसार में जितने कार्य्य दृष्टिगोचर होते हैं

उन सब का संयुक्त नाम कुदरत या नेचर है। इस से भिन्न नेचर कोई अन्य वस्तु नहीं। अतः नेचर कार्य्य ही है कर्त्ता नहीं। कर्त्ता इनसे भिन्न चीज़ है।

यहां एक बात और याद रखनी चाहिये। जिस प्रकार नाक से सूंघने वाला, कान से सुनने वाला और हाथ से काम करने वाला वस्तुतः एक ही जीव है जो शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव को चलाता है इसी प्रकार समस्त संसार की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का निर्माण करने और चलानेवाला एक ईश्वर है। यदि एक से अधिक ईश्वर होते तो संसार के कार्य्यों में भी ऐक्य न होता। परन्तु हम देखते हैं कि यह ऐक्य सभी चीज़ों में मिलता है। जो नियम इंग्लैंड की टेम्स नदी के जल को चलाते हैं वही प्रयाग की गंगा के जल को। जो नियम जमुना नदी के जल में तैरती हुई मछलियों के शरीर को चमकाने के कारण हैं उन्हीं नियमों से पर्वतों के शिखर पर बर्फ़ चमकती है या बाग़ों के फूल चमकते हैं। इसी प्रकार जो नियम सृष्टि में वायु मण्डल को नियमित करते हैं उन्हीं से हमारे शरीर के प्राण-मण्डल का संचालन होता है। इससे प्रकट होता है कि—

(१) ईश्वर एक है।

(२) वह अति सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है।

(३) वह निराकार है और किन्हीं दो वस्तुओं के शरीर से बना नहीं हैं।

(४) वह अत्यन्त ज्ञानी है। उसका ज्ञान संसार की प्रत्येक वस्तु से प्रकट होता है।

(५) वह एक रस है अर्थात् उस में कभी परिवर्त्तन नहीं होता। यदि वह परिवर्त्तनशील होता तो दूसरी चीज़ों में परिवर्त्तन न कर सकता।

(६) वह अवतार नहीं लेता क्योंकि अखण्ड एक रस है। उसमें परिवर्त्तन हो ही नहीं सकता।

(७) वह सर्व व्यापक और सर्वशक्तिमान है क्योंकि उसकी महिमा संसार के प्रत्येक स्थान और प्रत्येक कण से प्रकट होती है।

ईश्वर और जीव में यह भेद है कि यद्यपि ईश्वर और जीव दोनों चेतन हैं तथापि ईश्वर एक है और जीव बहुत से हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है और जीव एक-देशीय है। ईश्वरसर्व शक्तिमान है। जीव थोड़ी शक्ति वाला है। जीव को अपना काम करने के लिये शरीर की आवश्यकता होती है पर ईश्वर अपना कार्य्य बिना किसी की सहायता के कर सकता है। ईश्वर आनन्द-स्वरूप है अर्थात् उसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं। इसलिये उसको खाने, पीने, भोगने की आवश्यकता नहीं होती। जीव में इच्छा और द्वेष पाये जाते हैं। इसलिये उसको दुःख और सुख दोनों होते रहते हैं। जब उसे इच्छा के अनुकूल वस्तु मिलती है तो वह सुखी होता है और जब इच्छा के विरुद्ध, तो दुःखी होता है। इसलिये उसको खाने, पीने, भोगने की ज़रूरत पड़ती है।

जीव के भोगने का साधन शरीर है। इस प्रकार शरीर जीव के कर्म और भोग दोनों का साधन है। यह शरीर भौतिक है अर्थात् पृथ्वी आदि पांच तत्वों से बना है। यह तत्व जीव और ईश्वर के समान अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य हैं। ईश्वर इन तत्वों को जोड़कर शरीर बनाता है। शरीर में सदा परिवर्त्तन हुआ करता है। बच्चे का शरीर छोटा होता है और फिर शनैः २ बढ़ता है। बुड्ढे का शरीर बढ़ता नहीं किन्तु घटने लगता है। और एक दिन मृत्यु हो जाती है। जीव के लिये जन्म और मृत्यु क्रमशः होते रहते हैं। जीव के शरीर के साथ संयोग होने का नाम जन्म और वियोग का नाम मृत्यु है। जीव स्वयं न कभी नष्ट होता है न उत्पन्न होता है। इस लगातार जन्म और मरण का नाम 'आवागमन' या "पुनर्जन्म" है। इसी को अवतार भी कह सकते हैं। अर्थात् चेतन जीव भौतिक शरीर में अवतरित होता या उतरता है। राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध आदि सब जीव थे इनको ईश्वर मानना भूल है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जीव शरीर को पाकर यदि धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करता है और ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है तो उसकी उन्नति होती जाती है और जितनी उसकी उन्नति होती है उतना ही उसको अच्छा शरीर मिलता है। इसी प्रकार राम, कृष्ण आदि ज्ञानी और उच्च जीव थे। ऐसा ही उनके जीवन चरित्रों से विदित होता है। उनमें इच्छा, द्वेष, सुख दुख

सभी पाये जाते थे। वह अपनी मर्य्यादा के भीतर ही उन्नति कर सकते थे। इससे अधिक नहीं। वह ईश्वर कभी नहीं हो सकते। ईश्वर तो एक ही है। वह उनके समय में भी था और उनके बाप दादों के समय में भी।

ईश्वर और जीवों से भिन्न अन्य कोई चेतन शक्तियाँ नहीं हैं। आप उत्तम जीवों को ही देवी या देवता कह सकते हैं। परन्तु इन से इतर देवी देवते कोई नहीं। जो लोग शिवजी, गणेशजी, आदि को ईश्वर या जीव से भिन्न देवते मानते हैं वह भूलते हैं। संस्कृत साहित्य में यह शब्द कभी २ मनुष्य विशेष के नाम और कभी २ ईश्वर के नाम हैं। आजकल भी गणेश और शिव आदि नाम वाले मनुष्य मिलते हैं। वेदों में यह नाम ईश्वर के भी आये हैं जैसे "नमः शिवाय च शिवतराय च" अर्थात् कल्याणकारी ईश्वर को नमस्कार हो। परन्तु यहां ईश्वर और जीव से भिन्न किसी तीसरे चेतन से तात्पर्य नहीं है।

देवी देवताओं के मानने का मुख्य कारण यह है कि लोगों ने भूल से संस्कृत शब्द देव, देवता और देवी के अर्थों में गड़बड़ करदी है। वैदिक साहित्य में 'देव' शब्द प्रायः निम्न अर्थों में आता है:—

(१) ईश्वर के अर्थ में

(२) विद्वान के अर्थ में

(३) प्रकाश करनेवाली चीज़ों के अर्थ में, जैसे सूर्य्य, दीपक आदि।

(४) संसार के भिन्न २ पदार्थों के अर्थ में। जैसे तेतीस देवों में निम्न पदार्थ सम्मिलित हैं:—आठ वसु अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र; ग्यारह रूद्र अर्थात् दस प्राण और एक आत्मा; १२ आदित्य अर्थात् १२ महीने; एक यज्ञ और एक इन्द्र अर्थात् बिजली। देव और देवी शब्द तो भद्र पुरुष और भद्र स्त्रियों के लिये आज कल भी आते हैं। परन्तु वैदिक साहित्य में 'देव' या 'देवता' ऊपर लिखे अर्थों में आता था। होते होते लोगों ने यह समझा कि देवी या देवता ईश्वर, जीव और प्रकृति से भिन्न कोई चौथे पदार्थ हैं। वस्तुतः बड़े २ राजे महाराजे या महात्मा कभी कभी अपनी विशेष योग्यता के लिये 'देव' कहलाते थे। परन्तु थे वह जीव ही। लोगों ने विशेषता को यहां तक बढ़ाया कि उन को ईश्वर मानने लगे। ईसाई और मुसलमान धर्मों में 'फ़रिश्ते' भी इसी प्रकार माने जाने लगे। 'ईसा' को लोग ईश्वर का बेटा पहले इसलिये कहते होंगे कि वह अपने देश और समय में एक उत्तम पुरुष था। पहले यूनानी लोगों की रीति थी कि बड़े आदमी को ईश्वर का बेटा कह देते थे। शनैः २ लोग यह समझने लगे कि 'ईसा' किसी विशेष अर्थ में ईश्वर का बेटा है। यही नहीं, कुछ ईसाई लोग तो इस को ईश्वर का अवतार मानते हैं। वस्तुतः वह यह नहीं समझते

कि ईश्वर, जीव और प्रकृति के सिवाय अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जीव अवतार लेता है अर्थात् वह एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण करता है। परन्तु ईश्वर अवतार नहीं लेता। जो ईश्वर का अवतार मानते हैं वह भ्रम में हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर सर्व शक्तिमान है इसलिये वह सब कुछ कर सकता है। और इसलिये अवतार भी ले सकता है। उनको जानना चाहिये कि सर्वशक्तिमान का केवल इतना अर्थ है कि उस में सब शक्तियां हैं अर्थात् जितने प्रकार की शक्तियां संसार में पाई जाती हैं वह सब ईश्वर में हैं। वह संसार के प्रत्येक परमाणु को हिला सकता है। जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जा सकता है। परन्तु सर्वशक्तिमान का यह अर्थ किसी शब्द से नहीं पाया जाता कि वह सब काम कर सकता है। संसार में सैकड़ों काम ऐसे हैं जो जीव ही कर सकते हैं ईश्वर नहीं कर सकता। अर्थात् ईश्वर मर नहीं सकता, ईश्वर झूठ नहीं बोल सकता। ईश्वर बदल नहीं सकता। ईश्वर चोरी नहीं कर सकता इत्यादि २। फिर हम पूछते हैं कि ईश्वर के अवतार लेने का प्रयोजान क्या है? यदि कहो कि यह प्रयोजन स्वयं ईश्वर में विद्यमान है तो ईश्वर स्वार्थी, और अल्प हो जायगा। यदि कहो कि यह प्रयोजन ईश्वर से इतर जीव में विद्यमान है तो भी ईश्वर सर्वशक्ति



डी. ए. वी. कालेज, लाहोर के सर्वस्व

श्री महात्मा हंसराज जी

[देखो पृष्ठ १३२]

मान नहीं रहेगा क्योंकि जीव उस को बदलने के लिये बाधित करेगा।

कुछ लोग (जैसे ईसाई और मुसल्मान लोग) कहते हैं कि जीव और प्रकृति अनादि नहीं हैं। ईश्वर ने इनको बनाया है। वह सर्वशक्तिमान है इसलिये बिना जीव और प्रकृति की सहायता के भी सष्टि बना सकता है। परन्तु यह लोग आर्य्यसमाज का सिद्धान्त नहीं समझते। ईश्वर सष्टि बनाने में जीव और प्रकृति की सहायता नहीं लेता किन्तु जीव और प्रकृति को ही सृष्टि रूप कर देता है। जीव और प्रकृति साधन नहीं हैं किन्तु वह पदार्थ हैं जिन पर ईश्वर की क्रिया का फल गिरता है। यदि ईश्वर यज्ञदत्त को मारता है तो कर्त्ता ईश्वर है, मारना क्रिया है और यज्ञदत्त कर्म हैं। अब यदि कोई कहे कि मारने में यज्ञदत्त की आवश्यकता नहीं, ईश्वर बिना यज्ञदत्त के भी मार सकता है तो यह उसका कहना सर्वथा भ्रान्ति होगी। कर्म को कारण मान लेना भूल है। "मैं किताब को देखता हूं।" यहां 'किताब' साधन नहीं है किन्तु कर्म है। यदि जीव और प्रकृति न होते तो ईश्वर स्वयं अपने लिये कुछ न बनाता उसको क्या आवश्यकता थी कि वह कुछ बनाता। उसने तो जीवों के भोग के लिये ही सृष्टि बनाई है।

सार यह निकला कि ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि हैं। यह सदा से हैं और सदा रहेंगे। ईश्वर सर्वव्यापक, एक,

सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। जीव कई, अल्प और एक देशी चेतन हैं। उनके भोग और कर्म के लिये ही ईश्वर प्रकृति को अनेक रूप से बनाता है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परतंत्र हैं। जीवों को एक शरीर छोड़ कर दूसरा शरीर अपने कर्मानुसार लेना पड़ता है। जब उनको अपनी मर्य्यादा के अनुसार अत्यन्त ज्ञान हो जाता है तो उनकी मुक्ति हो जाती है। अर्थात् वह एक बहुत बड़े काल पर्य्यन्त शरीर के बन्धन से छूट जाते हैं। और ईश्वर को साक्षात् करके आनन्द में रहते हैं। उस नियतकाल के पश्चात् वह फिर संसार में आते हैं और अपने कार्य्यों का चक्र आरम्भ करते हैं। इस प्रकार जीव सदा ईश्वर और प्रकृति से प्रभावित रहते हैं। ईश्वर से अधिक संपर्क सुख देता है और प्रकृति से अधिक संपर्क दुःख का कारण होता है।

दूसरा अध्याय

वेद और शास्त्र

आर्य्य समाज का सिद्धान्त है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है तो ईश्वर मनुष्यों की ज्ञान वृद्धि और कर्त्तव्य परायणता के लिये चार मनुष्यों को जो अपने पूर्व जन्म की योग्यता के कारण विशेषता रखते हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद देता है। इन ऋषियों के

नाम हैं अग्नि, आदित्य, वायु और अङ्गिरा। यह संसार में उस ज्ञान का प्रचार करते हैं। और गुरु शिष्य की परम्परा चल पड़ती है। यह बात सभी जानते हैं कि जीव में बिना पढ़ाये ज्ञान प्राप्ति की योग्यता नहीं है। इसलिये ईश्वर की यह महती दया है कि उसने हमारे लाभ के लिये वेद दिये।

सृष्टियां निरन्तर होती रहती हैं। अर्थात् सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि। जब प्रकृति के परमाणु मिल कर चीज़ें बन जाती हैं तो सृष्टि कहलाती है। जब प्रकृति के परमाणु कारण अवस्था में रह जाते हैं तो प्रलय कहलाती है। वेद प्रत्येक सृष्टि की आदि में दिये जाते हैं।

इस सृष्टि की आदि में भी वेद दिये गये। जब बहुत काल के पश्चात् लोगों को वेदों का प्राचीन ऋषियों का बताया अर्थ विस्मृत हो गया तो विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थ रचे जिन में वेद मंत्रों के विनियोग तथा कहीं कहीं अर्थ भी दिये। ईश्वर प्राप्ति के विषय में ऋषियों के सम्भाषण भी उन ब्राह्मणों में लिखे गये जिनको उपनिषद् या आरण्यक कहते हैं।

निम्नलिखित ब्राह्मण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

(१) ऐतरेय ब्राह्मण

(२) शतपथ ब्राह्मण

(३) साम ब्राह्मण

(४) गोपथ ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रन्थों का बहुत सा भाग यज्ञ सम्बन्धी है। परन्तु

उपनिषदें अधिकतर ब्रह्म विषयक ही हैं। निम्नलिखित उपनिषदें आर्य्य समाज को माननीय हैं:—

(१) बृहदारण्यक, (२) छान्दोग्य (३) मुण्डक, (४) माण्डूक्य (५) ऐतरेय (६) तैतरेय (७) ईश (८) केन (९) कठ (१०) प्रश्न (११) श्वेताश्वितर।

कुछ समय के पश्चात् ऋषियों ने सूत्र ग्रन्थ बनाये इन में कुछ धर्म सूत्र हैं जिनमें मानवी समाज के संचालन के नियम दिये हैं जैसे मानव धर्म सूत्र। कुछ गृह्य सूत्र हैं जिनमें नैमित्तिक त्यौहारों और संस्कारों का वर्णन है। मुख्य २ गृह्य सूत्र यह हैः—आपस्तम्भ, गोभिलि, आश्वलायन, पारस्कर

मानव धर्म सूत्र के ही आधार पर मनुस्मृति श्लोकबद्ध की गई। इस में चारों वर्ण और आश्रम के नियम दिये हुये हैं। आजकल स्मृतियाँ तीस के लगभग हैं परन्तु आर्य्य समाज मनु-स्मृति को ही प्रामाणिक मानता है क्योंकि यही प्राचीनतम है। इसको भृगु संहिता भी कहते हैं क्योंकि भृगु ने इसको श्लोक बद्ध किया था।

दर्शन शास्त्र छः हैं जिनमें ईश्वर जीव प्रकृति, कर्म, भोग आदि गम्भीर दार्शनिक विषयों पर विचार किये गये हैं। यह भी सूत्रों में हैं। इनकी संख्या छः है, (१) व्यास मुनि का वेदान्त (२) जैमिनि मुनि का कर्म मीमांसा (३) पतञ्जलि

मुनि का योग (४) कपिल मुनि का सांख्य (५) कणाद मुनि का वैशेषिक (६) गौतम मुनि का न्याय।

आजकल बहुत से लोग समझते हैं कि यह छः शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध हैं। कोई कहता है कि सांख्य ईश्वरवादी नहीं है। कोई कहता है कि वेदान्त जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक हैं। परन्तु यह बात नही हैं, वस्तुतः यह सब शास्त्र एक हैं केवल भेद इतना है कि भिन्न २ दर्शनों में एक ही प्रश्न के भिन्न २ रूप से उत्तर दिये गये हैं। आर्य्यसमाज यद्यपि इन सब ग्रन्थों को प्रामाणिक मानता है परन्तु स्वतः प्रमाण केवल वेद ही हैं क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से भ्रान्तिरहित हैं। परन्तु ब्राह्मण आदि ग्रन्थ मनुष्य कृत होने से केवल उतने ही अंश में प्रमाण हैं जितने में वह वेदानुकूल हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि वेद आर्य्यों ने भिन्न २ समयों में रच लिये और उनमें भिन्न २ मनुष्यों की कथायें हैं। परन्तु यह बात आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार की साक्षियों से सिद्ध नहीं होती। प्रथम तो वेद में स्वतः लिखा है कि वह ईश्वर कृत है * दूसरे इनसे प्राचीनतम कोई पुस्तक नहीं।

* (१) तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः तस्मादजायत। (अथर्ववेद) अर्थात् ऋक्, यजु, साम और अथर्व ईश्वर से उत्पन्न हुये।

(२) देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। (अथर्ववेद) ईश्वर के काव्य अर्थात् ज्ञान को देखो। वह न कभी मरता हैं न जीर्ण होता है।

क़ुरान में बाइबिल का वर्णन है, बाइबिल में ज़ूबूर का है, ज़बूर में तौरेत की है। इससे भी पुरानी ज़िन्दावस्था में वेदों का है। परन्तु वेदों में किसी पुस्तक का वर्णन नहीं। तीसरे भारतवर्ष के सभी प्राचीन ऋषि मुनि और ग्रंथ कार इसको मानते चले आये हैं कि वेद ईश्वर कृत हैं, यहां तक कि दर्शनकारों ने भी वेद को स्वतः प्रमाण माना है। और जिन कपिल को लोग अनीश्वरवादी मानते हैं उन्होंने भी सांख्य दर्शन में वेदों को ईश्वरकृत अर्थात् स्वतः प्रमाण माना हैं।* स्वामी शंकराचार्य आदि महात्मा भी यही कहते हैं और गीता, रामायण, आदि में भी यही लिखा है। वेदों में कोई इतिहास नहीं है। जिन शब्दों को लोगों का नाम समझ लिया गया है वह वस्तुतः यौगिक संज्ञायें हैं। संसार में देखा भी जाता है कि आदि में एक शब्द यौगिक होता है फिर लोग उस को व्यक्तिवाचक संज्ञा बना लेते हैं, इसके कुछ उदाहरण हम शतपथ ब्राह्मण से देते हैं:—

(१) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वैनु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽयो यद्वस्तृतयो वसति तेनोऽएववसिष्ठः।

(२) मनो वै भारद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो विभर्ति सो ऽन्नँ वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः।

---

(३) यथेमांवाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः (यजुर्वेद) जैसे मैंने इस कल्याणकारी वेद को मनुष्यों के हित के लिये दिया है।

* देखो निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।

(३) चक्षुर्वै जमदग्निऋषिर्यदनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः ।

अर्थ (१) वसिष्ठ का अर्थ प्राण है क्योंकि वसिष्ठ श्रेष्ठ को कहते हैं। जो उत्तम प्रकार से बसे वह वसिष्ट।

(२) भरद्वाज का अर्थ है मन क्योंकि यह दो शब्दों से बना है (भरत्+वाज) भरत=भरना, वाज=अन्न ।

(३) जमदग्नि का अर्थ है आंख क्यों कि आंख से सब जगत् को देखते हैं।

इस प्रकार वेदों में वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि शब्दों के यौगिक अर्थ प्राण, मन और आंख थे फिर कुछ दिनों पीछे यही शब्द लोगों ने अपने नाम बना लिये *। 'राम' शब्द भी वेदों में 'काले' के अर्थ में आया है। वहाँ 'दशरथ' के पुत्र से अभिप्राय नहीं है।

लोगों ने यौगिक शब्दों के व्यक्तिवाचक समझ कर उन में कहानियाँ भी कल्पित करलीं इसके कारण वेदों के समझने में बड़ी कठिनाई हुई और वैदिक धर्म का प्रचार जाता रहा। महीधराचार्य, सायणाचार्य, उव्वटाचार्य आदि ने जो वेदों के भाष्य किये उनमें उन्होंने इसका विचार नहीं किया और जो

---

* 'भद्रो भद्रया' इति सामवेदीय मंत्र में सायणाचार्य्य 'राम' शब्द का अर्थ करते हैं 'रामं कृष्णं शार्वरं तमः' अर्थात् 'राम' का अर्थ है काला या रात्रिके समान अंधेरा

कथाय उनके समय में प्रचलित हो चुकी थीं उन्हीं के आधार पर अर्थ कर दिये। इस प्रकार अर्थों का घोर अनर्थ हो गया। ऋषि दयानन्द ने जो वेद भाष्य किया है उस में यही विशेषता है कि शब्दों के यौगिक अर्थ किये गये हैं।

याद रखना चाहिये कि वर्त्तमान सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति को एक अरब ९७ किरोड़ वर्ष के लगभग हो चुके। इस भारी समय में अनेक परिवर्तन हुये। शब्दों पर इतिहास का प्रभाव पड़ा और उनके अर्थ बदल गये। इसलिये लौकिक संस्कृत कोष से प्राचीन वेदों के अर्थ करने अन्याय हैं। यदि ठीक २ अर्थ किये जायं तो वेदों में मनुष्य की उन्नति के अमूल्य साधन दिये हैं। इनके पठन पाठन का उद्योग से प्रचार करना चाहिये। वेदों में कुछ मंत्र ईश्वर प्रार्थना के हैं, कुछ में सृष्टि के नियम हैं और कुछ में कर्त्तव्यों की विधि और अकर्त्तव्यों का निषेध है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।

यद्भद्रं तन्न आसुव। (प्रार्थना)

सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्। य० २३।१०

(सृष्टिनियम)

अर्थ-सूर्य्य अपनी कीली पर घूमता है, चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। आग ठण्ड का इलाज है। पृथ्वी पर बीज बोना चाहिये।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।

ऋग्वेद ८।८।४६। २

विधि

मेल करके रहो, साथ वार्त्तालाप करो और एक से विचार रक्खो।

हम यहाँ वेदों के कुछ आदेशों को नमूने के लिये देते हैं जिससे पता लग जाय कि मनुष्य के हित के लिये वेदों में कैसी अच्छी अच्छी बातें दी हुई हैं:—

(१) दृष्ट्वारूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धा-मनृते दधाच्छ्रद्धा ७ं सत्ये प्रजापतिः॥ यजु० १६।७७॥

अर्थ-ईश्वर ने सत्य और झूठ को अलग २ करके दिखा दिया है। मनुष्यों को चाहिये कि सत्य में श्रद्धा रक्खें और झूठ में कभी श्रद्धा न करें।

नोट-बहुत से लोग झूठी बातों में श्रद्धा करना भी अच्छा समझते हैं। वेद भगवान् का उपदेश है कि श्रद्धा केवल उस बात में होनी चाहिये जो सच है। झूठ में कभी श्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

(२) दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। य० ३६।१८॥

अर्थ—हे ईश्वर आप मुझे सुखी करें। संसार के सब प्राणी मुझे मित्र समान देखें। मैं सब को मित्र की आंख से देखूं। हम सब मित्र की दृष्टि से परस्पर एक दूसरे को देखें।

(३) न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः। उतोरयिः पृणतो नोप दस्यत्युता पृणन्मर्डितारं न विन्दते। ऋ० १०।११७।१ ॥

अर्थ-देवों ने भूख को मृत्यु के समान नहीं बनाया। जो पेट भर खाते हैं वह भी मरते हैं। दानी लोगों का धन कभी क्षय नहीं होता। जो दान नहीं देता उसको कुछ सुख प्राप्त नहीं होता।

(४) य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफिता-योप जग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते। ऋक् १०।११७।२ ॥

अर्थ-उस अन्न वाले मनुष्य को कभी सुख नहीं होता जो भूखे दरिद्र मनुष्य के आने पर अपना मन कठोर कर लेता है और उसे दान नहीं देता।

(५) आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मात्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥
ऋ. १०।१७३। १ ॥

अर्थ-प्रजा लोग राजा से कहते हैं कि हे राजन्! हमने तुझ को अपना राजा चुना है। तू स्थिर और दृढ़चित्त होकर हम पर शासन कर। प्रजा के लोग तुझको प्रिय हों और तू राज से च्युत न हो।

(६) ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छति।
अथर्व ११।३।५।१७ ॥

अर्थ-ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही राजा राज कर सकता है। और ब्रह्मचर्य के बल से ही आचार्य शिष्य को पढ़ा सकता है।

(७) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥
अथर्व ११। ३। ५। १९ ॥

अर्थ-ब्रह्मचर्य के द्वारा ही विद्वान् मृत्यु को जीतने हैं और ब्रह्मचर्य के बल से ही राजा विद्वानों पर आधिपत्य प्राप्त करता है।

(८) सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिघ्न्या।
अथर्व। ३। ६। ३०। १ ॥

अर्थ-ईश्वर कहता है कि हे जीवो ! मैंने तुमको हृदय वाला और बुद्धि वाला तथा एक दूसरे से द्वेष न करने वाला बनाया है। तुम एक दूसरे के साथ इस प्रकार बर्ताव करो जैसे गौ अपने नये उत्पन्न हुये बछड़े के साथ में करती है।

(९) अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचंवदतु शान्तिवाम् ।
अथर्व ३ । ६ । ३० । २ ॥

अर्थ-पुत्र को चाहिये कि माता पिता की मन से आज्ञा माने। स्त्री को चाहिये कि सदा पति से मीठी वाणी बोले।

(१०) मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।
अथर्व ३ । ६ । ३० । ३ ॥

अर्थ-भाई को भाई से और बहिन को बहिन से द्वेष नहीं करना चाहिये। सब लोगों को चाहिये कि परस्पर प्रेम से अच्छी वाणी बोले।

(११) इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः ।
पूर्वोतिथेरश्नाति ॥ अथर्व ९ । ३ । ३ । १ ॥

अर्थ-जो बिना अतिथि के खिलाये भोजन कर लेता है उसके घर का यश आदि सब नष्ट हो जाता है।

(१२) एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ अथर्व । १ । ३ । ३ । ७ ॥

अर्थ-यदि किसी के घर कोई वेदपाठी अतिथि आवे तो उसके भोजन करने से पूर्व भोजन नहीं करना चाहिये।

वेदों में जीवन के प्रत्येक विभाग के लिये उचित और कल्याणप्रद शिक्षायें हैं जिनका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। स्मृति आदि सच्छास्त्रों में जो शिक्षायें हैं वह भी बीज रूप से वेदों से ही ली गई हैं। इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थ, दर्शन, उपनिषदें, स्मृतियाँ आदि सभी ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं, अर्थात् जो बात उन में वेदों के अनुकूल है वह माननीय है। जो वेदों के विरुद्ध है वह माननीय नहीं है। जिस समय बाइबिल, क़ुरान आदि पुस्तकें लिखी गईं थीं उस समय भी वैदिक शिक्षा किसी न किसी रूप में उन देशों में प्रचलित थी। केवल भेद इतना था कि कुछ शिक्षायें भ्रम के कारण दूषित हो गईं थीं। इसलिये क़ुरान और बाइबिल आदि में भी उत्तम शिक्षायें किसी न किसी साधन द्वारा वेदों से आई हैं। हाँ उनके साथ लिखने वालों के क़िस्से कहानियाँ और उनकी बहुत सी भूलें भी दी हुई हैं, जिनके कारण शुद्ध वदिक धर्म की शिक्षा दोष युक्त हो गई है उदाहरण के लिये क़ुरान शरीफ़ में लिखा है कि (१) ईश्वर एक हैं (२) मूर्ति नहीं पूजनी चाहिये (३) शराब नहीं पीना चाहिये। (४) दया करनी चाहिये। यह सब वेदों की शिक्षा है जो क़ुरान शरीफ़ के लिखे जाने से बहुत काल पूर्व विद्यमान थी। परन्तु इसके साथ ही मुहम्मद साहब का पैग़म्बर होना, काले पत्थर को

पूजना, गौ आदि पशुओं को मारना, बहिश्त में शराब की आशा रखना आदि बातें लोगों ने स्वार्थवश मिलादी हैं। जिनके कारण वैदिक शुद्ध शिक्षाओं का भी बुरा फल निकलता है। मनुष्यों का कल्याण तभी होगा जब शुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार होगा।

तीसरा अध्याय

नैत्यिक और नैमित्तिक यज्ञ तथा संस्कार

आर्यसमाज वेदादि सत् शास्त्रों के आधार पर पांच नैत्यिक कर्मों को मानता है जिनको पंचमहायज्ञ कहते हैं। मनुस्मृति में लिखा है:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत ॥४।२१॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम्।
होमो दैवोबलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥३।७०॥

अर्थात् पहला ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ पांच नित्य कर्म हैं।

पहला ब्रह्मयज्ञ या ऋषि यज्ञ है। इसका अर्थ है ईश्वर पूजा और वेदाध्ययन। ईश्वर पूजा के तीन भाग हैं। स्तुति, प्रार्थना, उपासना। ईश्वर के गुणों का वर्णन करना स्तुति

है। ईश्वर से अपने कर्त्तव्य पालन की सहायता मांगना प्रार्थना है और ईश्वर के चिन्तमन में मग्न होना उपासना है। अपने शरीर तथा सृष्टि के निर्माण पर विचार करने से ईश्वर के गुणों का अनुभव होता है। जीव अपनी अल्पज्ञता और ईश्वर की महत्ता का विचार करके ईश्वर से सहाय के लिये प्रार्थना करता है। और जब संसार की वस्तुयें उसके आनन्द का साधन प्रमाणित नहीं होती तो वह परमात्मा में मग्न होकर आनन्द प्राप्त करना चाहता है यही उपासना है। स्तुति-प्रार्थना और उपासना की पहली सीढ़ी सन्ध्या है जो प्रातःकाल और सांयकाल करनी चाहिये।

ब्रह्मयज्ञ का दूसरा भाग वेद पाठ है जो प्रत्येक आर्य को प्रातःकाल करना चाहिये। मूर्त्तिपूजा वेद विरुद्ध और युक्ति शून्य है। जो लोग संध्या के स्थान में मूर्त्ति पूजते हैं वह भूल करते हैं। पहले काल में मूर्त्ति नहीं पूजी जाती थीं। लोगों ने जब रामचन्द्र जी और श्री कृष्ण जी आदि को अवतार मानना आरम्भ किया तो उनकी मूर्त्तियां बनाकर पूजने लगे। इस प्रकार ईश्वर पूजा छूट गई और मूर्त्तिपूजा प्रचलित हुई। ईश्वर की तो कोई मूर्त्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि ईश्वर निराकार है। जो लोग रामचन्द्र को अवतार मानते हैं उनको भी मूर्त्ति नहीं पूजनी चाहिये। क्योंकि यदि कल्पना के लिये मान भी लिया जाय कि ईश्वर ने रामचन्द्र जी के शरीर में अवतार लिया तो रामचन्द्र जी की मृत्यु पर

उस अवतार का भी अन्त हो गया अब उसकी पूजा कैसी। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर सब स्थान पर है इसलिये मूर्त्ति में भी है। यह सच है कि ईश्वर मूर्त्ति में भी है पर जीव तो मूर्त्ति में नहीं है। ईश्वर प्राप्ति वहां होगी जहाँ जीव और ईश्वर दोनों हों। यह केवल अपने हृदय में ही हो सकता है। मूर्त्तिपूजा ने संसार की बहुत हानियां की हैं। हम यहां कुछ का वर्णन करते हैं:—

(१) सैकड़ों विशाल मन्दिर मूर्तियों के लिये बनाये गये हैं! और जो रुपया तथा भक्ति मनुष्यों के दुख दूर करने में लगनो चाहिये वह मूर्त्तियों की सजधज में लगती है।

(२) अल्प मूर्त्तियों पर भरोसा करने से मनुष्य में ईश्वर विश्वास कम होकर आत्मिक बल कम होता है और अन्ध विश्वास की प्रथा बढ़ जाती है। लोग समझने लगते हैं कि अमुक महादेव म्लेच्छ को दर्शन न देने के अर्थ कुए में कूद पड़े इत्यादि इत्यादि।

(३) जो जातियां प्रत्येक कंकड़ या झाड़ी को उपास्य-देव मानकर पूजती हैं वह उन जातियों से सदा पिटती रहती हैं जो उन पत्थरों को पैरों से ठकुराती हैं।

(४) मूर्त्तिपूजने वाले ईश्वर को भी अपने समान सोने वाला, खाने वाला, पीने वाला मानते हैं। भोग लगाते हैं, गर्मियों में पंखा करते हैं, जाड़ों में रज़ाई उढ़ाते हैं, रात को सुलाते हैं, प्रातःकाल को जगाते हैं। इस प्रकार तब वह



[भारत-केसरी लाला लाजपतिराय]

ईश्वर को अपने समान इच्छा और आवश्यकताओं वाला मानते हैं वह ईश्वर से किस सहायता की आशा कर सकते हैं।

दूसरा महायज्ञ देवयज्ञ है। सुगन्ध युक्त पदार्थों से सायं प्रातः हवन करना देवयज्ञ है। तीसरा भूतयज्ञ है। चीटीं, कौए, कुत्ते, गाय आदि को रोटी देना भूतयज्ञ अर्थात् बलि-वैश्व देवयज्ञ कहलाता है। माता पिता की सेवा सुश्रुषा करने को पितृयज्ञ कहते हैं। बहुत लोग मरे हुये पितरों को पानी देना और उनके नाम पर ब्राह्मणों को भोजन कराना पितृयज्ञ समझते हैं। परन्तु यह भूल है। जीव तो मरने के पीछे दूसरा शरीर धारण कर लेता हैं फिर मरे हुओं के लिये पानी और खाना पहुंचाना ही व्यर्थ है।

पांचवां यज्ञ नृयज्ञ है। अतिथि अर्थात् विद्वान, साधु, पण्डित तथा परोपकारी सज्जनों का भोजन आदि से सत्कार करना अतिथि या नृयज्ञ है।

यह हुये नैत्यिक यज्ञ। नैमित्तिक यज्ञ विशेष कर नवश-स्येष्टि और संवत्सरेष्टि यज्ञ हैं जो नई फसल के पकने या वर्ष के आरम्भ होने पर यज्ञ करने को कहते हैं। इनके अतिरिक्त राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ हैं जो राज्याभिषेक आदि शुभ अवसरों पर किये जाते हैं। मनुष्य के जीवन के भिन्न भिन्न अवसरों पर जो संस्कार किये जाते हैं वह भी नैमित्तिक यज्ञ हैं उनके नाम यह हैं (१) गर्भाधान संस्कार

(२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) मुण्डन (९) कर्णवेध (१०) यज्ञोपवीत (११) वेदारम्भ (१२) समावर्त्तन (१३) विवाह (१४) वान प्रस्थ (१५) सन्यास (१६) देहान्त।

पहले तीन संस्कार जन्म से पहले गर्भ की रक्षा के निमित्त किये जाते हैं। आगे के छः बचपन में माता-पिता के घर होते हैं। दसवां और ग्यारहवां ब्रह्मचर्याश्रम और विद्याध्ययन से सम्बन्ध रखते हैं। बारहवां संस्कार ब्रह्मचर्य्य के अन्त में और तेरहवां गृहस्थाश्रम के आरम्भ में होता है। चौदहवां और पंद्रहवां वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम के आरंभ में होते हैं। सोलहवां देहान्त संस्कार मृत्यु के पश्चात् होता है। इन सब के आरम्भ में ईश्वर प्रार्थना और हवन सामान्य कर्म हैं। इसके पश्चात् उन उन संस्कारों की विधि की जाती है। इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि आत्मा को उच्च कर्म करने की योग्यता प्रदान होती रहे। इसमें आगे के लिये व्रत करने की आवश्यकता होती है।

चौथा अध्याय

समाज संगठन

आर्य्य समाज या वेदों के सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य-समाज को चार वर्णों में बांटा गया है (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय

(३) वैश्य (४) शूद्र। मनुस्मृति में इन वर्णों के निम्न प्रकार से कर्त्तव्य दिये गये हैं:—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रति ग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्। १। ८८॥

वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और देना यह ब्राह्मणों के कर्त्तव्य हैं। अध्यापकों, नये आविष्कार करने वाले तत्ववेत्ताओं, धर्म और न्याय की व्यवस्था देने वाले जजों और वकीलों की गणना ब्राह्मणों में है।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्यायनमेव च।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १। ८९

क्षत्रियों का कर्त्तव्य पढ़ने, हवन करने, दान देने आदि के अतिरिक्त मुख्यतः प्रजा की रक्षा करना है अर्थात् सेना के सैनिक, रणपोतों के संचालक, रणवायुयानों के व्यवस्थापक, पुलिस के कर्मचारी आदि सब क्षत्रिय हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषि मेव च॥ १। ९०॥

पढ़ने, दान देने तथा हवन करने आदि के अतिरिक्त पशु-पालन, कला कौशल, कृषि आदि से पदार्थों को उत्पन्न करना और व्यापार यह वैश्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार अहीर, गड़रिये, कुम्हार, लोहार, सुनार, थवई, बढ़ई, ठठेरे, तेली, बजाज़, आदि सभी वैश्य वर्ण हैं। आज कल हिन्दू जाति इन में से कई पेशे वालों को नीच समझती है। परन्तु यह बात

वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। वस्तुतः यह सभी पेशे वाले उच्च और श्रेष्ठ हैं।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषा मन सूयया ॥ १ । ९१ ॥

शुद्र उसको कहते हैं जिसमें ऊपर के किसी कर्त्तव्य के पालने की योग्यता नहीं है। इसलिये शूद्र का केवल एक कर्त्तव्य है कि वह उच्च वर्ण के कर्त्तव्य पालने में उनकी सेवा शुश्रूषा करें, क्योंकि वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता है, केवल दूसरों की आज्ञा पालन कर सकता है, जैसे पानी भरना, घर शुद्ध करना, वस्त्र धोना, भोजन बनाना आदि। परन्तु शूद्रों से न तो घृणा करनी चाहिये और न उनको अछूत समझना चाहिये। शूद्र केवल इसलिये शूद्र है कि वह अन्य वर्णों के कार्य्य करने की योग्यता नहीं रखता। वह नीच नहीं है न नीच काम करता है। नीच काम वह है जिसके करने से समाज को हानि पहुँचती हो, और जिसके लिये आप दूसरे को कह सकें "भाई यह नीच कर्म है। इसे मत करो"। नीच काम हैं झूठ बोलना, चोरी करना, डाका मारना, व्यभिचार करना। इनके लिये आप कह सकते हैं कि "न करो"। परन्तु जिन कार्यों को आपने नीच समझा है जैसे कपड़ा धोना, झाड़ू लगाना, शौचालय को शुद्ध करना। यह नीच नहीं हैं। इनके करने से समाज को कोई हानि नहीं और न करने से समस्त समाज को दुःख पहुँचता है। अतः यह नीच कर्म नहीं और न

इनके करने वाले नीच हैं। रोटी पकाने का काम शूद्र का है क्योंकि आपके बताने के अनुसार वह रोटी पका सकता है। आज कल हिन्दूजाति में रुटिकरों को ब्राह्मण कहा जाता है यह भूल है और इस से कई हानियाँ हो रही हैं। एक तो ब्राह्मण कहलाने की इच्छा करने वाले अपने वर्ण के अनुकूल कर्मों का पालन न करके रोटी पकाने, पानी पिलाने आदि का कार्य्य करते रहते हैं और इस प्रकार 'ब्राह्मणत्व' का लोप हो गया है। दूसरे लोग इन कामों के लिये शूद्रों को न ढूंढ़ कर ब्राह्मणों को ढूंढते हैं अतः ब्राह्मणों का मान कम होता जाता है। वस्तुतः कर्त्तव्यों पर विचार करने से पता चलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र जन्म से नहीं किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं। ब्राह्मण का बेटा शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य या ब्राह्मण हो सकता है और शूद्र का लड़का भी शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य या ब्राह्मण हो सकता है। जैसे डाक्टर के लड़के का डाक्टर ही होना, मास्टर के लड़के का मास्टर ही होना अवश्यम्भावी नहीं इसी प्रकार वर्णों को समझना चाहिये। हिन्दुओं में जन्म से जाति मानने के कारण संगठन नहीं रहा, मिथ्या जाति-अभिमान बढ़ गया और वास्तविक योग्यता जाती रही। परस्पर घृणा होने लगी। अब इस रोग को शीघ्र ही दूर करना चाहिये।

प्रत्येक वर्ण के दो भाग हैं एक स्त्री और दूसरा पुरुष। स्त्री जाति को भी नीच न समझना चाहिये, विवाह आदि संस्कारों

तथा गृहास्थाश्रम के कामों में उनका समान अधिकार है। स्त्रियों के वह सब संस्कार होने चाहिये जो पुरुषों के अर्थात् यज्ञोपवीत्, वेदारम्भ, सन्यास आदि भी स्त्रियों को विहित हैं। यह झूठ है कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं। प्राचीन काल में स्त्रियाँ वद पढ़ती थीं और मंत्रों की ऋषिकायें तक होती थीं। स्त्रियों को नीच भी नहीं समझना चाहिये।

समाज का आधार विवाह संस्कार के गौरव पर है। क्यों कि विवाह संस्कार द्वारा स्त्री-पुरुष का मेल होता है। आर्य्य समाज का सिद्धान्त है कि १६ वर्ष की कन्या, २५ वर्ष का पुरुष; १८ वर्ष की कन्या ३६ वर्ष का पुरुष; या २४ वर्ष की कन्या और ४८ वर्ष का पुरुष विवाह योग्य होते हैं। आज कल जो बालकों के विवाह हो रहे हैं वह शास्त्राज्ञा के विरुद्ध और इसलिये अधर्म हैं। बूढ़े पुरुषों को लड़कियों के साथ विवाह करना भी अधर्म है। एक स्त्री का एक ही पुरुष से और एक पुरुष का एक ही स्त्री से विवाह होना चाहिये। हाँ, यदि स्त्री विधवा हो जाय या कोई पुरुष रडुआ हो जाय और वह अक्षतयोनि या अक्षत वीर्य हो तो उनका उनकी इच्छा के अनुसार विवाह हो सकता है। बाल विवाह के कारण जो विधवायें हो रही हैं इन से समाज को बड़ी हानि हो रही है। व्यभिचार, और भ्रूण हत्या बढ़ रही है। हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान और ईसाई बन रही हैं। इनका एक मात्र उपाय यह है कि इच्छुक विधवाओं के विवाह किये जायँ। यह विधावायें सामाजिक

कुरीतियों के कारण हुई हैं। वह सामाजिक कुरीतियाँ अभी बन्द नहीं हुई। इसलिये समाज को अपने हित पर विचार करके विधवाओं की दशा सुधारना चाहिये। यदि किसी पुरुष को विष दे दिया जाय तो उसको साधारण भोजन से लाभ न होगा विशेष औषधि ही देनी पड़ेगी। इसी प्रकार विधवाओं की संख्या अधिकतर बाल विवाह रूपि विष के कारण बढ़ी है। इन को कम करने के लिये विशेष अवस्थाओं में विवाह की आज्ञा देनी होगी। समाज के हितैषियों को अपने हृदय पर हाथ रख के सोचना चाहिये। हम कह चुके हैं कि स्त्रियों और पुरुषों का अधिकार समान है। स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी है। इसलिये विवाह आदि में जो अधिकार पुरुष को हैं वह स्त्री को भी होने चाहियें। पुरुषों को चाहिये कि एक से अधिक स्त्री से विवाह न करें और जब तक बूढ़े रंडुए अपना पुनर्विवाह नहीं छोड़ते, न्याय चाहता है कि बाल विधवाओं को तो अवश्य ही पुनर्विवाह की आज्ञा देनी चाहिये। स्त्रियों को मृतक पति की लाश के साथ जल जाना वेद विरुद्ध है। इस लिये आर्य्यसमाज सती की प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखता है। 'सती' वह नहीं है जो मृत पति के शव के साथ जल जाती है किन्तु वह है जो पातिव्रत धर्म का पालन करती और अपने कर्त्तव्यों से विमुख नहीं होती। हाँ एक बात स्पष्ट है। आर्य्यसमाज मानता है कि स्त्री को पति की उतनी भक्ति करनी चाहिये जितनी पति के लिये योग्य है। पति को ईश्वर

नहीं मानना चाहिये। जो लोग समझते हैं कि पतिव्रता स्त्री को ईश्वर की भी पूजा नहीं करनी चाहिये वह भूलते हैं। स्त्री को चाहिये कि पति को पति और ईश्वर को ईश्वर समझे और यदि पति अनाचार या पाप करता हो तो उस में सम्मिलित न हो।

आर्य्यसमाज धर्म को काल विशेष या देश विशेष से घिरा नहीं मानता। जिस प्रकार ईश्वर सत्युग में था वैसा त्रेता में भी था, वैसा ही द्वापर में और वैसा ही कलियुग में। इस प्रकार जो ईश्वर इंगलैंएड में है यही भारतवर्ष में, वही अरब में और वही चीन में। इसलिये धर्म के सत्यभाषण आदि जो नियम सतयुग में थे वह अब भी हैं। इंगलैंएड आदि देशों में जाने से पाप नहीं होता, न समुद्र पार करना पाप है। इंगलैंएड में रह कर भी मनुष्य उसी प्रकार धार्मिक या पापी हो सकता है जैसा प्रयाग में रह कर। इसलिये किसी मनुष्य को केवल इसलिये प्रायश्चित नहीं करना चाहिये कि वह यूरोप या अमेरिका हो आया है। हाँ यदि कोई पाप किया है तो प्रायश्चित करने में हानि भी नहीं है। विदेशों में तो आर्य्य लोगों को अवश्य जाना चाहिये। इससे व्यापार और ज्ञान की वृद्धि होगी। पाप कुछ भी न होगा।

तीसरा भाग

आर्य्य समाज के कार्य्य

पहला अध्याय

वैदिक धर्म प्रचार

ऋषि दयानन्द ने १८७५ ई० में आर्य्यसमाज की संस्थापना की। उस समय से अब तक आर्य्यसमाज वैदिक धर्म प्रचार का भरसक प्रयत्न करता रहा है। ऋषि ने अपने जीवन काल में वैदिक पाठशालायें इसीलिये खोली थीं कि वेदों को लोग पढ़ने लगें। वस्तुतः उस समय वेदों का प्रचार बिलकुल उठ चुका था। जिस समय ऋषि ने काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ किया उस समय संस्कृत के एक मात्र केन्द्र काशी में भी सम्पूर्ण वेदों के पुस्तक विद्यमान न थे और पण्डितों ने इधर उधर के पृष्ठों को ही वेद समझ लिया था। ऋषि दयानन्द ने खोज करके वेदों का संग्रह किया और एक वैदिक यंत्रालय केवल इसीलिये खोला कि वेद और वैदिक साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हों। स्वयं उन्होंने वेद भाष्य करना आरम्भ किया। वह अपने

जीवन में ऋग्वेद के सातवें मण्डल के कुछ भाग तक और यजुर्वेद का सम्पूर्ण भाष्य कर गये। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उन्होंने उन आक्षेपों का उत्तर दिया जो बहुधा वेदों पर किये जाते हैं। ऋषि की मृत्यु के पश्चात् श्री पं० तुलसीरामजी स्वामी मेरठ ने सामवेद का सम्पूर्ण भाष्य और पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी, लूकरगंज प्रयाग ने अथर्ववेद तथा गोपथ ब्राह्मण का सम्पूर्ण भाष्य किया। ऋग्वेद के शेष भाग का कुछ भाष्य श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ दरभंगा ने करना आरम्भ किया था परन्तु उनकी मृत्यु हो गयी। इसका बहुत कुछ भाग श्री आर्य्य मुनि जी धर्मकूप काशी कर रहे हैं बहुत कुछ हो गया है। कुछ शेष रह गया है। वेद के मूल पुस्तक आजकल पहले की अपेक्षा बहुत पढ़े जाते हैं और भारतवर्ष के कई छाप ख़ानों में छपे हैं। इस समय प्रत्येक नगर में वेदों की कई कई जिल्दें मिलेंगी।

यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दू लोगों ने भागवत, महाभारत, रामायण, गीता आदि को पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था और जिन वेदों पर इन पुस्तकों की भी स्थिति है उनको सर्वथा त्याग रक्खा था। हिन्दू लोग जड़ को न सींच कर पत्तों को सींचने लगे थे। उन्होंने तुलसीकृत रामायण को ही सर्वस्व समझ लिया था। यह ऋषि दयानन्द का ही प्रताप था कि वेदों का पठन पाठन फिर से आरम्भ हुआ। यद्यपि बहुत से वेदज्ञ उत्पन्न नहीं हुये तथापि वेदों

के विषय में पहले की अपेक्षा सहस्र गुनी चरचा बढ़ गई है। आर्य्यसमाज वैदिक धर्म प्रचार की एक जीती जागती संस्था है। उसके उपदेशक नियमित रूप से वेद प्रचार किया करते हैं। पहले स्त्री और शूद्र को तो वेद पढ़ने का निषेध ही था। क्षत्रिय और वैश्य पढ़ते न थे। ब्राह्मणों में भी लाखों और करोड़ों में एक निकलता था जिसने वेद के पुस्तक के दर्शन भी किये हों। परन्तु अब कम से कम कई लाख आर्य्य सामाजिक वेद मंत्रों को पढ़ते हैं। आर्य्यसमाज की देखा देखी सनातन धर्म सभा ने भी वेदों के भाष्य आरम्भ किये हैं और अब उनके प्लेटफार्मों से बिना स्त्री या शूद्र के विचार के वेद मंत्र उच्चारित होते हैं। यदि इसी प्रकार रुचि बनी रही तो संशय नहीं कि बहुत शीघ्र वेदों के पण्डित उत्पन्न होने लगेंगे। मनुष्यों का दृष्टिकोण तो अब भी वेदों के विषय में बहुत कुछ बदल चुका है। पहले इनको गड़रियों के गीत समझा जाता था अब इन को अधिक गौरवान्वित समझा जाता है। वैदिक साहित्य अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, दर्शन आदि का भी बहुत कुछ प्रचार हो रहा है। क्या यह आनन्द की बात नहीं है।

दूसरा अध्याय

विद्या प्रचार

आर्य्यसमाज का विचार है कि संसार में मतमतान्तरों के झगड़े अविद्या से फैलते हैं। यदि विद्या का प्रचार अधिक हो तो लोगों में पक्षपात की मात्रा कम हो सकती है और धर्म तथा सदाचार उन्नत दशा को प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये आर्य्यसमाज आरम्भ से ही शिक्षा का उद्योग करता रहा है। यह तो हम कई स्थानों पर कह चुके हैं कि ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन काल में वैदिक पाठशालायें खोली थीं। परन्तु उनको योग्य अध्यापक न मिलने के कारण वह बन्द कर देनी पड़ी। ऋषि की मृत्यु के पश्चात् ही उनकी स्मृति में श्रीमद्दयानन्दएङ्गलो वैदिक कालेज की नींव डाली गई जो आजकल डी. ए. वी. कालेज लाहौर के नाम से प्रसिद्ध है। यह पंजाब में बहुत बड़ा कालेज है और विद्यार्थियों की संख्या के विचार से उत्तरी भारत में यह किसी से कम नहीं है। **महात्मा हंसराज जी** ने इस कालेज के खुलते ही अपना जीवन बिना किसी वेतन के इसको चलाने के लिये दान दिया था और उन्होंने जिस आत्मत्याग और प्रेम-भाव से कालेज का संचालन किया उसका उदाहरण इतिहास में कठिनाई से मिल सकेगा। **श्रीयुत लालालाजपतिरायजी** तथा अन्य कई सज्जन इस काम को अपने जीवन

के अन्य कामों की अपेक्षा उच्च समझते रहे। इस का प्रभाव यह पड़ा कि पंजाब में इस समय चार बड़े २ कालेज हैं अर्थात् मुल्तान, जालंधर, होशियारपुर और लाहौर। संयुक्त प्रान्त में कानपुर और देहरा दून के डी. ए. वी. कालेज उपस्थित हैं। दक्षिण में कोल्हा पुर का राजाराम कालेज वहां के नरेश की अनुमति से श्रीमती आर्य्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त की अध्यक्षता में कार्य्य कर रहा है। इन कालिजों के अतिरिक्त डी. ए. वी. स्कूल हैं जो जाल के समान उत्तरी भारत में फैले हुये हैं। स्कूल और कालेजों में प्रायः वही पाठविधि रक्खी जाती है जो सरकारी शिक्षा विभाग से नियत होती है। हम केवल दो कार्य्य अपनी ओर से कर सकते हैं अर्थात् धार्मिक शिक्षा का कुछ प्रबन्ध करदें और शिक्षणालयों में में आर्य्य सामाजिक वायु मण्डल उत्पन्न करने का यत्न किया जाय। पंजाब में इस वायु मण्डल ने विचित्र कार्य्य किया। इसी का परिणाम था कि वहां आर्य्यसमाज का प्रभाव बहुत अधिक है।

परन्तु प्रायः ३० वर्ष हुये होंगे कि कुछ नेताओं के हृदय में यह बात उत्पन्न हुई कि केवल इस प्रकार की संस्थाओं से वैदिक शिक्षा की अधिक उन्नति नहीं होती, इसलिये ऋषि दयानन्द की बताई हुई स्कीम के अनुसार गुरुकुल खोलने चाहिये। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में शिक्षाक्रम का एक महत्वपूर्ण विवरण दिया है।

उनका कहना है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक प्राचीन रीति के अनुसार लड़के गुरुकुलों में नहीं भेजे जा सकते। वहाँ उनको अपनी शिक्षा समाप्ति के अन्त तक रहना चाहिये। इसलिये पंजाब प्रतिनिधि सभा ने **महात्मा मुंशीराम जी** वकील, जालंधर की प्रेरणा से जो आजकल **श्री स्वामी श्रद्धानन्द** जी के नाम से प्रसिद्ध हैं गुरुकुल खोलना निश्चित किया सबसे पहला गुरुकुल श्री पं० कृपाराम जी ने जो तत्पश्चात् संन्यास लेकर स्वामी दर्शनानन्द जी के नाम से प्रसिद्ध हुये बुलन्दशहर ज़िले में सिकन्दराबाद स्थान में खोला। फिर पंजाब प्रतिनिधि सभा की ओर से १९०१ ईसवी में काङ्गड़ी (हरिद्वार) में गुरुकुल खोला गया जो आज-कल सब से बड़ा गुरुकुल समझा जाता है। इस समय गंगा में बाढ़ आनेके कारण इस के भवनों को अकथनीय क्षति पहुँची है और पंजाब प्रतिनिधि सभा ने शायद गुरुकुल को कनखल ले जाना का निश्चय कर लिया है। संयुक्त प्रान्तीय आर्य्य प्रतिनिधि सभा ने अपने आधीन एक गुरुकुल १९०५ ई० में फ़रुखाबाद में गंगा के तट पर खोला। परन्तु थोड़े दिनों पश्चात् यह उठकर वृन्दावन (ज़िला मथुरा) में चला गया और अब तक उसी स्थान में चल रहा है। श्री पं० भगवानदीन जी तथा **श्री नारायण स्वामी** जी को इसका प्रसिद्ध संचालक समझना चाहिये। बम्बई प्रतिनिधि ने सैण्टाक्रूज़ में गुरुकुल खोला है। इसके अतरिक्त कई और गुरुकुल तथा महा विद्यालय



["चाँद" से प्राप्त

कन्या महाविद्यालय जालन्धर की अध्यापिकायें ।

हैं। काङ्गड़ी गुरुकुल की कई शाखायें हैं और वृन्दावन की भी एक शाखा सकीट (ज़ि० एटा) है।

जिस समय आर्य्यसमाज की स्थापना हुई थी उस समय स्त्री-जाति को पढ़ाने का कोई प्रबन्ध नहीं था। हिन्दू जाति स्त्रियों को पढ़ाने के सर्वथा विरुद्ध थी। वेद तो स्त्रियों की कथा ब्राह्मण पुरुषों तक को नहीं पढ़ाये जाते थे परन्तु स्त्रियों को अक्षर-बोध कराना भी पाप समझा जाता था। यदि कुछ कन्या-पाठशालायें थीं तो ईसाइयों की ओर से। परन्तु आर्य्यसमाज ने इस आवश्यकता को अनुभव किया। स्त्री-शिक्षा के बिना कोई जाति उन्नति कर ही नहीं सकती। अतः सब से प्रसिद्ध और सब से पहली कन्या शाला जालंधर में लाला देवराज जी के उद्योग से खोली गई। जिसको आजकल कन्यामहाविद्यालय कहते हैं। कुछ दिनों पीछे कन्याओं की शिक्षा ने इतना बल पकड़ा कि आजकल शायद कोई ऐसा प्रसिद्ध समाज हो जिस में कन्या पाठशाला न हो।

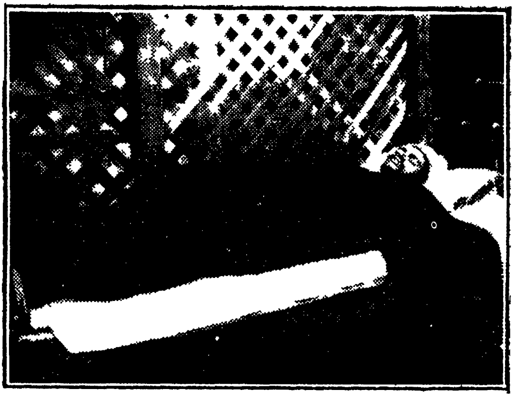
आर्य्यसमाज ने एक विचित्र और शोकजनक बात यह देखी कि हिन्दू जाति अपने अनाथ बच्चों का कोई प्रबन्ध नहीं करती। जब अकाल पड़ते हैं तो ईसाई लोग इन बच्चों को लेकर ईसाई बना लेते हैं। यह काम ईसाई लोग मुद्दतों से कर रहे थे। किसी जाति भक्त को यह नहीं सूझता था कि इस के लिये कुछ उपाय किया जाय। हिन्दूओं ने अपना राज विदेशियों से बचाने के लिये बहुत से युद्ध किये और

बहुत कुछ हाथ पैर मारे। परन्तु अपनी जाति तथा धर्म को बचाने के लिये थोड़ा भी उद्योग न किया। लाखों बच्चे भूख के मारे पेट भरने के लिये ईसाई हो गये। इसलिये अनाथालय खोलने का उद्योग किया गया। सब से पहला अनाथालय श्रीमद्दयानन्द अनाथालय फीरोजपुर में खोला गया। इसके पश्चात् कई अन्य अनाथालय खुल गये। इस समय अजमेर, आगरा, बरेली, लखनऊ, आदि अनेकों स्थानों में अनाथालय हैं जहाँ हिन्दूजाति के बच्चों की रक्षा की जाती है।

हिन्दू जाति में जातपांति के इतने झगड़े हैं कि इनका बहुत सा भाग अछूत समझा जाता है अर्थात् प्रतिष्ठित जाति के लोग उनको छूते तक नहीं। मद्रास और दक्षिण प्रान्तों में तो अछूतों के दर्शन से भी ब्राह्मण लोग पतित हो जाते हैं। फिर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना तो बहुत दूर की बात है। आर्य्यसमाज ने पंजाब में मेघ और ओड जाति को अपने में मिलाकर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध १८९९ ई० में ही आरम्भ कर दिया था। उस समय हिन्दूजाति के भद्र पुरुष इस बात को बड़ी घृणा से देखते थे। आर्य्यों को कुएं पर चढ़ने से रोकते थे। उनका भाव यह था कि यदि नीच जातियां पढ़ गईं तो हम भ्रष्ट हो जायँगे। हिन्दू जाति के इस बर्ताव ने आर्य्यसमाज के कार्य्य में बड़ी बाधा डाली और आर्य्यों को इसके कारण अनेक



कन्या-महाविद्यालय जालन्धर की कन्यायें सेवा, सुश्रुषा करना सीख रही हैं। ["चाँद" से प्राप्त]



[पं० रामचन्द्र जी मृत्यु शय्या पर बेहोश पड़े हैं]

"मेघों के उद्धार में अपनी खोवी जान है।
जग को यह दिखला दिया यों होता बलिदान है॥"

(विभु)



Staff Captains Yuddh Prakas and Kripa
(Richardson)

युद्ध प्रकाश तथा कृपादेवी [देखो पृष्ठ १४०]

कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। परन्तु आर्य्य लोग अपने इस कार्य्य में डटे रहे। और जब कभी अवसर मिला इन्होंने अपनी उदारता दिखाई। लगभग दश वर्ष हुये होंगे कि महोबे में बाढ़ आई और वहां के महतरों के मकान बह गये। किसी ने उनको शरण न दी तो आर्य्यसमाज के मंत्री ने समाज मन्दिर का दरवाज़ा खोल दिया और वह लोग निःसंकोच मन्दिर में आ गये। इसी प्रकार मेरठ में पं० इन्द्र-मणि के उद्योग से महतर आदि के लिये पाठशालायें खोली गईं। थोड़े दिनों में हिन्दुओं के इस भाव में परिवर्त्तन हुआ। महात्मा गांधी ने अछूतोद्धार के लिये अपनी प्रबल आवाज़ उठाई। इस समय आर्य्यसमाज की ओर से अनेकों अछूत पाठशालायें खुली हैं जहां नीच कहलाये जानेवाले बच्चों को शिक्षा होती है। आर्य्यसमाज तो उनको अछूत कहने या उनकी पाठशालाओं को अछूत-पाठशाला कहने से भी घृणा करता है, इसलिये ऐसी पाठशालाओं का कल्याणी पाठ-शाला या श्रमजीवी-पाठशाला नाम रक्खा गया है। अछूतोद्धार का विशेष कार्य्य अब भी आर्य्यसमाज द्वारा ही हो रहा है, यद्यपि हिन्दू जाति के सुशिक्षित नेताओं ने अपना दृष्टिकोण बदल दिया है तो भी हिन्दू जनता की ओर से अब भी आपत्तियां उठाई जाती हैं। अभी दो साल हुये म० रामचन्द्र जी कश्मीर प्रान्त में अछूतों में कार्य करते हुये हिन्दू ठाकुरों के हाथ से मारे गये।

जो कुछ शिक्षा कार्य्य का वर्णन यहाँ किया गया वह आर्य्यसमाज की दृष्टि में अधिक संतोषजनक नहीं है। परन्तु आर्य्यसमाज की शक्ति इस समय बहुत कम है। आर्य्य-समाज की तो दृढ़ इच्छा यह है कि वह समस्त देश की शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर दे जिससे अविद्यारूपी अन्धकार रहने ही न पावे। ईश्वर इस इच्छा की पूर्त्ति में सहायता दें।

तीसरा अध्याय

शुद्धि

एक समय था कि समस्त भूमण्डल पर वैदिक धर्म का प्रचार था। भारतवर्ष के ऋषि मुनि देश विदेश जाकर लोगों को वैदिक धर्म का उपदेश करते थे। परन्तु जब भारतवर्ष में ही आन्तरिक झगड़े उत्पन्न हुये तो भारतवर्ष को छोड़कर अन्य देशों में वेदिक धर्म का ह्रास हुआ और शनैः २ ईसाई, मुसलमान तथा अन्य धर्म प्रचलित हो गये। भारतवर्ष में भी कई मतमतान्तरों ने बल पकड़ा और वैदिक धर्म का यहाँ भी नाम मात्र ही रह गया। भेद केवल इतना अवश्य था कि भारतवर्ष के बाहर वैदिक धर्म का नाम भी न था। यहाँ नाम तो बना हुआ था। जब भारतवर्ष में राजनैतिक क्रान्तियाँ हुईं और यहाँ के क्षत्रियों का बल कम हुआ तो मुसलमान और

ईसाइयों ने आकर अपना अड्डा जमाया। उस समय वैदिक धर्मियों में इतनी योग्यता तो थी नहीं कि बाहर से आनेवालों को अपने धर्म का उपदेश करते और उनकी रुचि धर्म की ओर लगाते। इन्होंने अपनी रक्षा के लिये कुछ कल्पित नियम बना लिये, जैसेः—

(१) विदेश जाना पाप है।

(२) म्लेच्छों को न छूना चाहिये। न उनके हाथ का छुआ खाना चाहिये।

(३) जो म्लेच्छों का खाना खालेगा वह और उसके वंशज सदा के लिये जाति से बाहर कर दिये जायंगे।

यह उपाय शायद आत्म-रक्षा के लिये किये गये थे। परन्तु इनसे हिन्दुओं की निर्बलता का पता चलता था। इसलिये हिन्दुओं के शत्रुओं ने इन पर घोर आक्रमण किये। मुसल्मान लोग चालाकी या बल से हिन्दू व्यक्तियों को अपना छुआ खाना खिला देते थे और हिन्दूजाति उन व्यक्तियों को अपने से अलग कर देती थी। ईसाई पादरियों ने कुओं में चुपके से रात में रोटियाँ डाल दीं और जब प्रातःकाल ग्राम के लोगों ने उन कुओं का पानी पी लिया तो उन्होंने प्रसिद्ध कर दिया कि अब यह हिन्दू नहीं रहे। क्योंकि इन्होंने ईसाई रोटियों का छुआ पानी पी लिया है। इस प्रकार जो हिन्दू अपनी इच्छा से धर्म न छोड़ते उनसे चालाकी से धर्म छुड़ा लिया जाता। इस समय मिस्टर रिचर्डसन और

उनकी स्त्री, जो कि स्काटलैंड के मिश्नरी हैं, पंडित और पंडितानी का भेष बना कर प्रचार कर रहे हैं। उन्होंने अपना नाम युद्धप्रकाश तथा कृपा देवी रख लिया है। [देखो चित्र १३७ पृष्ठ के सामने] इस प्रकार शनैः २ एक तिहाई भारतवासी वैदिक धर्म से निकल गये और इनकी संख्या दिन प्रति दिन कम होती जाती है।

यह बात नहीं थी कि लोग वैदिक धर्म की भलाइयों का अनुभव नहीं करते थे। कई बार प्रसिद्ध मुसलमानों ने चाहा कि हम वैदिक धर्मी हो जायँ। अकबर प्रायः चाहता था कि मैं हिन्दू हो जाऊँ। औरङ्गजेब के बड़े भाई दारा को तो हिन्दू धर्म के प्रेम के कारण ही अपने प्राण देने पड़े थे। परन्तु उस समय हिन्दू नेताओं की सिट्टी भूली हुई थी। वह धर्म के मूल तत्वों को न समझ कर केवल छूत छात और खान पान को ही धर्म समझ बैठे थे। चोरी करना, डाका-डालना, व्यभिचार करना, झूठ बोलना इतना घोर पाप नहीं समझा जाता था कि इसके लिये जाति से बाहर करने की ज़रूरत पड़े। परन्तु दूसरों का छुआ खाया नहीं और धर्म गया नहीं। इस अदूरदर्शिता ने हिन्दू जाति को इतनी हानि पहुँचाई कि इनका धर्म कर्म ही नहीं किन्तु वाणिज व्यापार, कला कौशल सब नष्ट हो गये। विदेश यात्रा बन्द, दूसरी जातियों के साथ व्यवहार बन्द। हिन्दू जाति अपने ही देश में क़ैद होगई। जो जाति एक समय पत्थर से भी अधिक दृढ़ थी उसकी छुई मुई

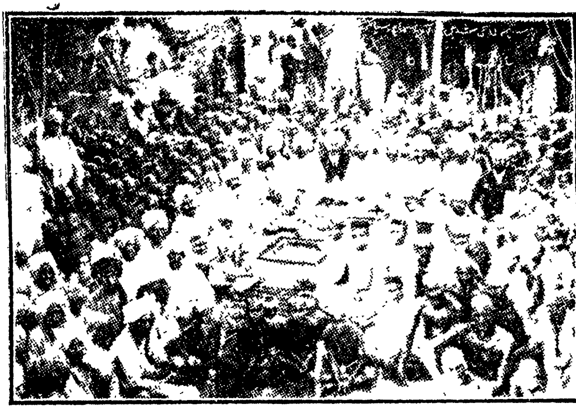
के पौधे के समान दशा हो गई। छूते ही मर जाना इसकी विशेषता रह गई।

ऋषि दयानन्द ने इस निर्बलता का भली प्रकार निरीक्षण किया, और इसका एक मात्र उपाय यह बतलाया कि वैदिक धर्म ग्रहण करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को है। चाहे वह किसी जाति या देश का क्यों न हो। जो वैदिक धर्मग्रहण करे वही आर्य्य है, और उससे किसी को घृणा न करनी चाहिये। जो वैदिक धर्मी नहीं वह अनार्य है। उस पर दया करनी चाहिये और उसे वैदिक धर्म में आने के लिये प्रेरणा करनी चाहिये। स्वामी दयानन्द ने यह भी बतलाया कि संसार की समस्त जातियाँ पहले एक ही थीं। यह सब भारतवर्ष से चलकर संसार में फैली। इनमें रक्त की समानता है। यह भिन्न २ जातियाँ नहीं हैं। इसलिये इनको वैदिक धर्म से वंचित रखना पाप है।

ऋषि के उपदेशों ने आर्य्यसमाज को जगा दिया और श्री पं० लेखराम जी आर्य पथिक ने शुद्धि की प्रथा जारी की। इसके अनुकूल जो मुसलमान, ईसाई या अन्य मतावलम्बी वैदिक धर्म को प्रिय समझता उसको आर्यसमाज में प्रविष्ट होने का अधिकार दिया जाता। इस प्रकार प्रकार शनैः शनैः बहुत लोग आर्य हो गये और उनके साथ खानपान का व्यवहार होने लगा। कई मौलवी शुद्ध हुये। कई साधारण पुरुषों ने वैदिक धर्म ग्रहण किया। पक्षपाती मुसलमानों ने

इसका विरोध किया और पं० लेखराम जी को एक मुस-लमान ने १८९७ ई० में मार भी डाला। परन्तु आर्य लोग इस काम को निरन्तर करते रहे। हिन्दुओं ने भी आर्यों का विरोध किया। वह कहते थे कि यदि मुसलमान आर्य्य होंगे तो हमारी पवित्रता में बाधा पड़ेगी। हम भ्रष्ट हो जांयगे। यह उनकी सर्वथा भूल थी। क्योंकि आर्य होते ही मुसलमान गो रक्षक, वैदिक धर्म्म, गायत्री का जाप करने वाला बन जाता था। हिन्दू जाति की हानि उस व्यक्ति के मुसलमान रहने में थी न कि आर्य होने में। परन्तु अदूरदर्शी हिन्दू सम-झते ही न थे। इस प्रकार आर्य्यों को अपने हिन्दू भाइयों के हाथों अधिक कष्ट भोगने पड़े और शुद्धि के प्रचार में बाधायें भी हुईं।

परन्तु ईश्वर ने इनकी आंखें खोलदीं। मालावार में मुसलमान मोपलाओं ने अवसर पाकर वहां के हिन्दुओं को १९२२ ई० में सैंकड़ों की संख्या में या तो मार डाला या ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया। जो मुसलमान बनने से इन-कार करता उसका तलवार से सिर उडादेते थे। कुएं के कुएं हिन्दुओं के धड़ों से भर गये। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब ने म० खुशालचन्द जी और कुछ और आदमियों को वहां भेजा। कालीकट में आर्य्यसमाज ने सहायता की निधि स्थापित की। बहुत से अत्याचार पीड़ित हिन्दुओं को शुद्ध किया। यह देखकर हिन्दू नेताओं ने भी करवट बदली।



शुद्धि-मंडप



मलाबार के पीड़ित हिन्दू जो आर्य्यसमाज द्वारा शुद्ध किये गये।